शीराज़ा (हिन्दी)

जे. एंड के. अकैडमी ऑफ आर्ट, कल्चर एंड लैंग्वेजिज़, जम्मू
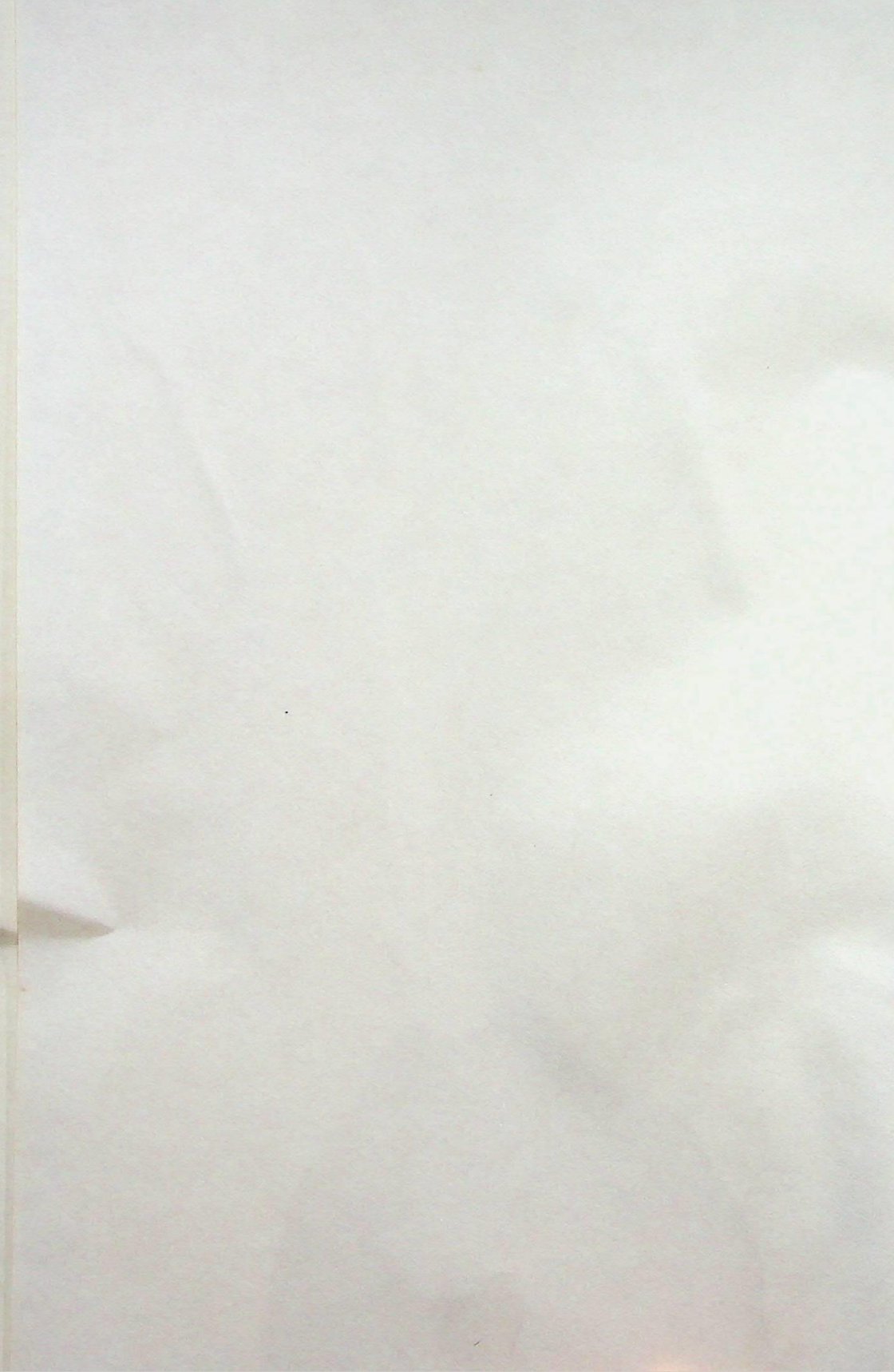
द्विमासिक

हिन्दी

वर्ष : 32 अंक : 2 जून-जुलाई 1996

पूर्णांक 132

प्रमुख सम्पादक
बलवंत ठाकुर

सम्पादक
डॉ० उषा व्यास

संपर्क : सम्पादक, शीराज़ा हिन्दी, ज़े० एंड के० अकादमी ऑफ आर्ट कल्चर
एंड लैंग्वेजिज़ जम्मू ।
फ़ोन : 579576 : 577643

मूल्य : 2 रुपये वार्षिक : 10 रुपये

प्रकाशक : बलवंत ठाकुर, सेक्रेटरी, अकादमी ऑफ आर्ट कल्चर
एंड लैंग्वेजिज़ जम्मू 180001

मुद्रक : मैसर्ज़ रोहिणी प्रिंटर्ज़, कोटकिशन चन्द जालन्धर—144004

इस अंक में :—

सम्पादकीय

हिन्दी कविता ने सम-सामयिक रूप से कई आन्दोलन और परिवर्तन देखे। जो प्रभावकारी भी हुये और चर्चित भी। इन आन्दोलनों ने उनके प्रवर्त्तकों को एक विशिष्ट स्थान पर आसीन कर दिया। कविता को लेकर आज तक यह तय नहीं हो पाया कि उसकी श्रेष्ठता के मानदण्ड क्या हों ?

फिर भी कविता लिखी जा रही है.. बस लिखी जा रही है। जितनी ज़्यादा लिखी जा रही है उतनी ही कम पढ़ी जा रही है। उसके कम पढ़े जाने में ऐसा क्या है ? जो उसे आम पाठक से परे रख रहा है।

अभी हाल में कुछ नयी काव्य कृतियां देखने में आयीं और बकौल कृतिकारों के कि उनकी यह कविता पाठक 'विशेष' की कविता है सहसा भीतर एक आश्चर्य की एक झुरझुरी सी जगा गया कि क्या वह कविता, कविता नहीं है ? जो आम पाठक की धड़कन छू सके। उसका सरापा तरंगायित कर सके।

एक ऐसी कविता, झरने की उज्ज्वल-उच्छल धार सी कविता जो चरवाहा हो या बादशाह, दोनों की अंजुरी में एक सी तृप्ति, एक-सी ठंडक भर सके।

ऐसे में मात्र निजी हो रहने से बहुत दूर सुनीता जैन की काव्य कृति 'जाने लड़की पगली' अपने अनूठे, अछूते कथ्य की समग्र संवेदना के साथ आम पाठक के साथ सीधे आ जुड़ती है। जिसमें एक स्मृति शेष मां का बेटी के साथ जुड़ाव भरा अलगाव और अलगाव भरा जुड़ाव मुखर है।

'होली आने-आने को है
यह गाती चिड़िया कहती है
धुला-धुला पत्ता कहता है
बौरायी अमिया कहती है
कूक रही कोयल कहती है
गर्मी अब आयी अब आयी
यह जौ की बाली कहती है
गेहूं की हरियाली कहती है
अब मां कहीं नहीं है
यह सूनी दोपहरी कहती है
देहरी की सांकल कहती है
बिन आयी पाती कहती है
अन्दर की छल-छल कहती है।

एक झाड़ी-सी चुपचाप खड़ी हूं
जिसकी जड़ें दूर-दूर तक
खोजती हैं वही
सोंधा सम्बन्ध
भीगी मिट्टी सी,
उसने आटे सा
पकती रोटी सा
हल्दी उबटन सा
पिसी हुई मेंहदी सा
रचे हुए हाथों सा
तुलसी के थाले सा
चांदी के गुच्छे सा
चुपके से दिये रुपये सा
पैरों पर अलते सा
ढोलक पे गीतों सा
चून्नी पर गोटे सा
किन्तु नहीं कहीं तुम
झाड़ी में से झांक रहा
केवल खालीपन ही, मां !

यदि पाठक और लेखक के बीच का जुड़ाव कहीं ऐसा ही तरल और मर्मस्पर्शी हो तो ज़ाहिर है पारे की बूंदों सी थिरकती कविता को हम हथेली पर रख कर उसे कहीं निकट से देख सकते हैं छू सकते हैं उससे सीधे रूबरू हो सकते हैं।

□

और अब...शीराज़ा का यह एक और अंक अपनी कुछ और नयी रचनाओं के साथ आपके हाथ।

—उषा व्यास

आलेख

कला-त्रिवेणी कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर

□ लालिमा धर चक्रवर्ती

विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का आविर्भाव विश्व-मानव और विश्व-साहित्य के लिए एक विशेष घटना, एक Phenomenon है। विश्व-मानव की लीलाभूमि, विश्व-जगत का कौन-सा ऐसा रूप है जो उन्होंने नहीं देखा और हमें नहीं दिखाया। वे न केवल महा-कवि हैं बल्कि संगीतकार, उपन्यासकार, नाट्यकार, निबन्धकार, पत्रकार, शिक्षाविद, अभिनेता और चित्रकार जैसी विविध वर्णी प्रतिभाओं का संगुम्फन भी। उन्होंने अपने आपको बार-बार कवि ही कहा। पर उस अर्थ में, जिस अर्थ में वैदिक ऋषियों को कवि कहा गया है। कवय: क्रांतदर्शिन; ; कवय: सत्यद्रष्टार:।

मानव-सभ्यता के इतिहास में कालजयी प्रतिभाओं में रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी ऐसी ही एक प्रतिभा थे जो विश्व कवि कहलाये।

आमि पृथिवीर कवि, येथा तार उठे यतो ध्वण ?
आमार बांशीर सुरे, साड़ा तार जागिबे तखनि।

सात मई, 1861 को कलकत्ता में प्रसिद्ध ठाकुर परिवार में जन्मे रवीन्द्र के पिता का नाम महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर था। पितामह थे राजा द्वारका नाथ ठाकुर। इसलिए वे जन्म से ही राजर्षि थे। बारह-तेरह साल की उम्र से ही उन्होंने कविता लिखना शुरू किया। उनकी कविता की शुरूआत संगीत से ही होती। उन्होंने कहा था कि वह Born-romantic हैं, लेकिन वे यह कहना भी कभी नहीं भूले कि वे इस पृथ्वी को छोड़ कर कहीं नहीं जाना चाहते हैं।—

मरिते चाहिना आमि सुन्दर भूवने
मानबेर माझे आमि बांचिबारे चाई॥

'कड़ि व कोमल', 'प्रभात-संगीत', 'छबि व गान', 'मानसी' तक उनकी प्रारम्भिक कवि दृष्टि का विकास क्रम स्पष्ट है—

हृदय आजि मोर केमने गेलो खुलि
जगत आसि सेया करिछे कोलाकुलि।

आज मेरा हृदय कैसे खुल गया कि सारा जगत वहां आ मिला।

इसके बाद 'सोनार-तरी' काव्य ग्रन्थ में विश्व-जीवन की आनन्द-चेतना का पहला स्वर गूंजता है। 'चित्रा' में यह परिणति प्राप्त करना है। इसी समय 'नैवेदय' काव्य-संग्रह में कवि की अन्तर आकुलता प्रकट होती है। यह आकुलता, यह मानव-प्रेम जीवन-देवता को आत्म समर्पण, गीतांजलि में अनाविल भक्ति रस से अभिषिक्त हो उठे हैं। इसी गीतांजलि पर उनको नोबेल-पुरस्कार मिला। कवि गुरु रवीन्द्र नाथ भारतीय साहित्य के एकमात्र अग्रदूत हैं जिन्हें नोबल पुरस्कार जैसे विश्व के सर्वोत्तम सम्मान से विभूषित किया गया—क्योंकि यह रचना—Conferred the greatest benefit on mankind, and produced in the field of literature the most out-standing work of an idealistic tendency.

जीवन की हर अनुभूति को हम 'गीतांजलि' में अनुभव कर सकते हैं। वर्तमान युग की यह 'गीता' भी है जो रवीन्द्रनाथ जैसे सत्य-द्रष्टा ऋषि ने हमें उपहार में दी। सुख-दुःख, शोक-आनन्द, जीवन-मृत्यु की विचित्र वेदना को कवि अपने जीवन की चरम उपलब्धि कहता है—

जाबार दिने एइ कथाटि बले येन थाई,
या देखेछि या पेयेछि तुलना तार नाई।
विश्व-रूपेर खेलाधरे कतई गेलेन खेले,
अपरूपके देखे गेलेम दुटि नयन मेलें।

'गीतांजलि' "Song offerings" में कवि ने स्वयं लिखा है—

"When I go from hence, let this be my parting word, that what I have seen is insurpassable.

In this play-house of infinite forms I have had my play and here have I caught sight of him that is formless.

रवीन्द्रनाथ की कविता और संगीत को हम अलग नहीं कर सकते। कविता उनकी देह है, तो संगीत उनकी आत्मा। गीतांजलि गीतों का एक हार है, जिसका मूल भाव है—मानव-प्रेम, विश्व प्रेम, अध्यात्मवाद और उनके जीवन देवता का दर्शन।

सम्पूर्ण सचेतनता के साथ रवीन्द्रनाथ ने कहा 'सबसे अधिक स्थायी होगा मेरा गान, यह मैं बलपूर्वक कह सकता हूं—लोग सुख-दुःख शोक-आनन्द में मेरे गीत को बिना गाये रह नहीं सकेंगे। युग-युग तक इस गीत को गाना होगा।*

---

*I don't hesitate to say that my songs have found their place in the heart of my land, and that the folk of the future, in days of joy or sorrow or festival, will have to sing them."

रवीन्द्र संगीत के बारे में कवि ने कहा—"यह सुर किसी से उधार नहीं लिए गये। मैंने अपने भीतर से गान की प्रेरणा पाई। इसीलिए अपने सहज रूप में अपनी गति में अन्तर से जो सुर प्रस्फुटित हो उठता है, वही मेरा गान हो जाता है।"

आमार आपन गान आमार अगोचरे
आमार मन-हरण करे।
नियें से याय भासाये
सकल सीमार-इ पारे।

संगीत को उन्होंने आध्यात्मिक अनुभूति का साधन माना है—"इसके द्वारा ही हमें मुक्ति मिल सकती है। देह-मन से बहुत दूर—अपने को—भूल जाता हूं—गान के सुर में मेरी उड़ान भरने लगती है।

देह मनेर सुदूर पारे, हारिये फेलि आपनारे
गानेर सुरे आमार मुक्ति उर्द्धे भासे।

वे संगीत के माध्यम से ही अलौकिक सत्ता को अनुभव करते हैं। मुक्ति का बोध करते हैं। अपने जीवन-देवता को ढूंढ़ते हैं, जानते हैं। "गान के माध्यम से जब समस्त विश्व देखता है, तब मैं 'तुमको पहचानता हूं, जानता हूं'"—

ज्ञानेर भीतर दिये यखन देखि भूबन खानि।
तखन तोमाय चिनि आमि तखन तोमाय जानि।

रवीन्द्र नाथ के लिए संगीत चरम दशा में पहुंचाने वाली कला है।

मुक्ति ये आमारे ताइ संगी तेर माझे देय साड़ा।

एक बार रवीन्द्रनाथ को किसी ने पूछा कि आपने कोई महाकाव्य नहीं लिखा फिर भी आप महाकवि कैसे ? कवि ने उत्तर में कहा—'मैंने चाहा था कि महाकाव्य लिखूं। परन्तु जब इसके लिए प्रयास किया तब मेरा महाकाव्य सरस्वती देवी के नूपुरों से टकराकर चूर्ण-विचूर्ण हो गया और वही शत-शत गीतों के रूप में बिखर पड़ा। गीतांजलि इन्हीं बिखरे हुए मोतियों का हार है।

जीवन और जगत का कोई ऐसा स्वर नहीं है जो उनके साहित्य में न हो। रवीन्द्र नाथ सिर्फ एक महाकवि ही नहीं, एक पूर्ण-मानव थे। उनकी जीवन की आधार-शिला का चतुष्कोण है—मानव-प्रेम, कर्मवाद, प्रकृतिवाद और अध्यात्मवाद। उन्होंने अपनी जीवन व्यापी तपस्या एवं कर्म साधना द्वारा मानव प्रेम व मानव-मैत्री की वाणी का प्रचार किया था और खण्ड में अखंड का, भेद में अभेद का, रूप में अरूप का और सीमा में असीम का दर्शन किया—

सीमार माझे असीम तुमि बाजाओ आपन सुर
आमार मध्ये तोमार प्रकाश ताइ एतो सुमधुर।

असीम ! सीमा में भी तेरा ही स्वर ध्वनित हो रहा है।
मेरे अन्तःकरण में भी तेरा ही मोहक प्रकाश है।"

उन्होंने सम्पूर्ण विश्व के साथ, सृष्टि के साथ अपने अन्तर का योग स्थापित किया।

विश्व साथे योगे येथाय बिहारो
सेइ खाने योग तोमार साथे आमारो ॥

"सबके बीच में बसा होकर जहां तू विहार करता है, वहीं तेरी मेरी भेंट हो।"

उन्होंने धरती के दूरतम प्रांत के मनुष्य को भी अपनी गहरी आत्मीयता से अपने निकट कर लिया था।

कतो अजानारे जानाइले तुमि कतो धरे दिले ठांई।
दूर के करेछो निकट बंधु पर के करि ले भाई ॥

Thou has made me known to friend, whom I knew not. Thou has given me seat in homes not my own. Thou has brought the distant near and made a brother of the Stranger.

कितने ही अनजानों से तूने मेरा परिचय कराया है।
कितने ही पराये घरों में तूने मुझे निवास का स्थान दिया है।
बंधु ! तू दूर को निकट और पर को आत्मीय बनाता है।

रवीन्द्रनाथ एक सम्पूर्ण संस्कृति के स्रष्टा हैं। वे एक अप्रतिम चित्रकार हैं। यह शैली उनकी अपनी है। उनके चित्र देशकाल की सीमा के ऊपर हैं। सुप्रसिद्ध चित्रकार अवनीन्द्र नाथ ठाकुर ने कहा—रवीन्द्रनाथ की कला अप्रतिम है। यह उनकी अपनी है। कोई उसकी नकल नहीं कर सकता और न ही कोई उसकी व्याख्या कर किसी को सन्तुष्ट कर सकता है। न कोई कला-समीक्षक अपने द्वारा निर्धारित सिद्धान्त के अनुसार उसे ठीक या गलत कर सकता है और न किसी विशेष कोटि के अन्तर्गत ही रख सकता है।"

It was unique. His art was bis very own. One cannot imitate it, non can one explain it to one's satisfaction. Neither can the critic fit it into a set theory of his own or bring it under a distinct category."

उनकी चित्र रचना में कौन-सी दृष्टि, कौन-सा दर्शन निहित है, इसके अन्तर का मर्म क्या है ?, उन्होंने कहा—साहित्य, कला अनुभूति का विषय है—व्याख्या का नहीं। लोग अक्सर मुझे मेरे चित्रों के बारे में पूछते हैं मैं चुप रह जाता हूं, जैसे मेरे चित्र चुप रहते हैं—

People often ask me about the meaning of my painting, I remain silent even, as my paintings are. It is for them to express and not to explain.

वे कहते हैं—मेरे चित्र, रेखाओं में अंकित मेरी कवितायें हैं—

My paintings are my versification in lines. If by chance they are entitled to claim recognition, it must be primarily for some rhythmic significance of form which is ultimate, and not for any interpretation of an idea or representation of a fact."

ठुकरो थतो रुपेर रेखा संचित रय मनेर चित्रशाले
कखन छबिर आकार निये जोड़ा लागाय शिल्प कलार जाले ।

"Fragment of forms stored in the mind, combine in pictures at the magic touch of art."

गुरुदेव के जीवन और साहित्य को प्रकृति से अलग नहीं देखा जा सकता। उन्हें प्रकृति पुत्र भी कह सकते हैं। प्रकृति-प्रेम के कारण ही उन्होंने शान्ति निकेतन को अपनी कर्मभूमि बनाया। आत्मा, परमात्मा, और विश्व-प्रकृति को उन्होंने समान दृष्टि से देखा। तीनों के प्रति अपनी श्रद्धा समान रूप से प्रकट की। प्रकृति जड़ नहीं, प्राणमयी है; कवि को एक विश्व चेतना का आभास मिलता है। आकाश, नक्षत्र, तारे, चन्द्रमा, वायु सब उनके आत्मीय हैं—

आकाशेर तारा डाकिछे आमारे
समीरण डाके आय आय करे,
के जाने मोर प्राणेर भितर
बलिछे सकलि तोमारि ।

कवि विस्मित हो जाते हैं जब वे देखते हैं कि "समग्र ब्रह्मांड में मेरा स्थान कहां है ?"

आकाश भरा सूर्यतारा विश्व भरा प्राण
ताधरि माझ खाने आमि पेयेधि मोर स्थान
विस्मये, ताइ जागे आमार प्राण ।।

कवि ने प्रकृति के दान का मूल्य चुकाना चाहा, अपने ही ढंग से। 'आकाश ने मुझ में प्रकाश भरा है, मैं भी आकाश को गीतों से भर दूंगा—

आकाश आमाय भर लो आलोय
आकाश आमि भरबो गाने ।।

रवीन्द्रनाथ ने प्रज्ञा दृष्टि से, ऋषियों की दिव्य दृष्टि से जगत को देखा। इस दृष्टि से एक-एक धूलि कण मधु धारा से सिक्त दिखाई पड़ता है। इस मधुमय रूप को देख कर ही वैदिक ऋषि ने कहा—

मधुबाता ऋतयते, मधु क्षरन्ति सिंधव:

कवि ने कहा—

ए दयुलोक मधुमय, मधुमय ए पृथिवीर धुलि
अन्तरे नियेछि आमि तुलि।

विश्व कवि का विश्व-प्रेम, उनकी चिरंतन सत्ता, उनके कवित्व की अदृश्य आत्मा थी। उनकी हृदय वीणा से शाश्वत विश्व-प्रेम की सुर लहरियां ध्वनित हैं। उन्हीं के शब्दों में—

जगते आनन्द यज्ञे आमार निमन्त्रन
धन्य होलो धन्य होलो मानव जीबन ।।

I have had my invitation to this world's festival, and thus my life has been blessed.

जगत के आनन्द समारोह में भाग लेने का मुझे निमन्त्रण मिला है। इससे मेरा मानवीय जीवन धन्य हो गया है। □

जम्मू-कश्मीर के लेखकों से विशेष अनुरोध

राज्य की कला, संस्कृति एवं साहित्य के सृजन एवं
विकास का साक्ष्य प्रस्तुत करती रचनाएं
आमंत्रित हैं, अविलम्ब भिजवाएं।

—सं०

वर्तमान परिदृश्य कश्मीरी कविता

□ मोतीलाल साकी

जॉर्ज बर्नार्ड शॉ कहते हैं—

"जो व्यक्ति अपने बारे में और अपने समय के बारे में लिखता है वही मात्र एक व्यक्ति है जो सभी लोगों और सभी युगों के बारे में लिखता है।"

आज की कश्मीरी कविता जार्ज बर्नार्ड शॉ के अभिमत का जीता-जागता उदाहरण है। यह कविता उसी व्यथा और दारुण यथार्थ का दस्तावेज़ है जिस यथार्थ का सामना विभिन्न स्तरों पर कश्मीरी जनता कर रही है। कश्मीर में और कश्मीर से बाहर रहने वाले कवियों की रचनाओं में एक ऐसी चुभन है जो धैर्य को बेध देती है।

एक बात स्पष्ट है कि पिछले सात-आठ वर्षों में जो कविता रची गई उसका अधिकांश अभी तक प्रकाश में नहीं आ सका है विशेष कर वह कविता जो कश्मीर (घाटी) में रहते हुए कश्मीरी कवियों ने लिखी है। जिस स्थिति की अभिव्यक्ति आज की कश्मीरी कविता में हो रही है वह कश्मीरी काव्य में पिछले दशक के आरम्भ से ही उभरने लगी थी। इसी दशक में 'शीराज़ा' (कश्मीरी) का कवितांक प्रकाशित हुआ था। इस अंक में संकलित मेरी एक कविता के विषय में कश्मीरी के ख्यात विद्वान मुहम्मद यूसुफ टेंग ने भूमिका में लिखा है कि यह कविता एक वर्ग विशेष की मन:स्थिति को रेखांकित करती है—

> अब इस हवेली में कुछ ही लोग रह रहे हैं
> जो रोते बिसूरते दिन गुज़ार रहे हैं
> आस बंधाये बैठे हैं कि इस हवेली की नींव मजबूत है
> इसमें तो कई पीढ़ियां जीवन गुज़ार चली हैं
> हो सकता है कि हमारे दिन भी कट जाएं
> यह जानते हुए कि किसी भी क्षण गिरती दीवार उनको दबोच लेगी
> मगर उनके हाथ में, कोई बल नहीं
> बांहें फैलाये चिता उनके सामने जल रही है।

जिन खतरों और जिन सम्भावनाओं की ओर उक्त पंक्तियों में इंगित किया गया है उन खतरों और सम्भावनाओं को 1989 ई० के प्रारम्भिक दिनों में ही कार्यरूप दिया गया और सम्पूर्ण घाटी एक घातक प्रभंजन की चपेट में आ गई। आतंकवाद ने केवल शरीर को ही नहीं आत्मा को भी छलनी कर दिया। बुद्धि एवं विवेक की दीवारों को तोड़ कर भावुकता और नारेबाज़ी समय की पुकार बन गई। किसी का घर छिन गया तो कोई घर के अन्दर ही कैद हो कर रह गया। घाव भरने की तो बात ही नहीं। एक के बाद एक आत्मा घायल होती गई। जैसे शरीर पर लगे व्रण तो लोगों की दृष्टि के सामने रहते हैं, पर दिल पर क्या बीतती है, अन्त.करण कितना परेशान हो जाता है और आत्मा के गहरे घाव कितने कष्टकारक होते हैं—इन सब बातों को समझने और परखने के लिए आज की कश्मीरी कविता का अध्ययन ज़रूरी है। बनिहाल के उस पार रहने वाले कवियों की व्यथा को एवं उनकी दयनीय दशा को समझने के लिए कुछ पंक्तियां—

मधुशाला के द्वारों पर सांकलें चढ़ा दी गई हैं
सुन्दरता पर पहरे बिठा दिये गये हैं
नगर का विध्वंस हो गया
दिनदहाड़े यहां शाम सिसकियां भरती नज़र आती है।

○

कहते हैं कि इस बस्ती की जगह—
एक झील हुआ करती थी
अपने हाथों हाय!
हमने क्या दुर्गत कर दी।

कवि फारूक नाज़की की उक्त पंक्तियां अपने भीतर सहस्र व्यथा-कथाओं को समेटे हुए हैं। परिस्थितियों का लाभ उठा कर लोगों ने किस प्रकार प्रगति की विशाल हृदयता का गलत उपयोग किया इसका एक बिम्ब निम्न पंक्तियों से हमारे दृश्य-पटल पर उभरता है—

कविता संकेतों और प्रतीकों की भाषा है। उक्त पंक्तियों में जिस सच्चाई को शब्दों में ही कैद कर दिया गया है, वह आज का अन्दर ही अन्दर सुलगता, सच है। अमीन कामिल की कविता 'हमुद' (शुक्र) में—

शुक्र है तुम्हारा शुक्र है
मैं अन्दर ही अन्दर विष पीता रहा
मैंने अन्धाधुन्ध गोलियों की बौछार को—
सह लिया
हमने हर ओर चरागाहों और खेती में—
रात बो दी
कृतज्ञ हूं कि सनोबरों के साये हमें रास नहीं आते

शुक्रगुजार हूं कि हमने हिरणों और मैनाओं का नामोनिशान नहीं छोड़ा
अपने आसपास को तबाह करने में हमें खुशी होती है
शुक्र है कि सागर पार किये बिना ही हम पार उतर जाते हैं
शुक्र है कि पढ़े-लिखे बिना ही हम पास हो जाते हैं।

कल का इतिहासकार इस बात का उल्लेख करे या न करे कि घाटी की वर्तमान परिस्थितियों में नकल की जिस महामारी ने जड़ पकड़ी है उसकी सटीक अभिव्यक्ति उक्त पंक्तियों के अतिरिक्त अन्य सटीक ढंग से नहीं हो सकती। अपनी पीड़ा को अभिव्यक्त करने में कामिल की उद्धृत पंक्तियां एक उदाहरण हैं।

साम्प्रतिक त्रासदी ने घाटी के अन्दर क्या हाल बना रखा है, इसका अनुमान उसी व्यक्ति को हो सकता है जिसने इन घातक परिस्थितियों को स्वयं झेला हो। समाचार-पत्रों तथा पत्रिकाओं में तो मात्र सूचनाएं होती हैं, पर, जिस प्रभावशाली अन्दाज में कवियों ने चकित करने वाले हालात को कविता के शीशे में उतारा है वह उनका ही काम है। ये रचनायें उस समय तक दुहराई जायेंगी जब तक इन्सान किसी भी स्थान पर शान्त-स्वच्छ वातावरण में सांस लेने योग्य न हो जाये। फयाज़ (तलगामी) के शब्दों में—

आंगन उजाड़ हैं
मकान अपने अन्दर बसने वालों को तलाशते हैं
कहना उनसे
कि न पक्षी चहचहाते हैं
और न कमल मुस्कराते हैं।

ये पंक्तियां उन बिछुड़े लोगों के लिए यथार्थ को अनावृत्त करती हैं जो लोग विवशता-वश घाटी छोड़ कर चले गये हैं? बिछुड़े लोगों को वास्तविकता से परिचित कराते हुए कवि पुकार उठता है—

अलाव से बस एक आवाज उभरती है
बताना उनको
उन्होंने तो कानों के बुन्दे और गले के हार भी छीन लिये

व्यवस्था, लूटपाट, हत्याओं एवं खून खराबे के होते हुए भी घाटी के कवियों ने सच्चाई से मुंह नहीं मोड़ा है, बल्कि अब भी ऐसे लोग हैं जिनके पास सच्ची बात कहने का जीवट है।

रहमान 'राही' की शैली ही संकेतात्मक रही है क्योंकि वे हर बात को सृजन की भट्ठी में डाल कर सोने को कुन्दन बनाने में विश्वास रखते हैं। प्रतीकों का सहारा लेते हुए 'राही' ने भी उसी व्यथा को वाणी दी है जिस व्यथा ने हर संवेदनशील व्यक्ति के लिए घाटी के अन्दर जीवन को एक भयानक सपने में परिवर्तित किया है—

न हाथ ही नजर आया
न ही खंजर को देख पाये
धोखा खाकर पता नहीं चला
कि हमारे हत्यारे कौन हैं

उस पार रहने वाले कवियों को जिन घातक परिस्थितियों से गुज़रना पड़ रहा है, प्रतीकों के सहारे ही उन्होंने अपनी वेदना की अभिव्यक्ति की है। समाज के सर्वाधिक संवेदनशील व्यक्ति होने के नाते कवियों ने इन अमानवीय परिस्थितियों को तीव्र गहनता के साथ अनुभव किया है। इसमें कोई संशय नहीं कि पिछले वर्षों में जो कुछ हुआ उसका मूल्यांकन उस समय किया जायेगा जब परिस्थितियों में सुधार होगा, पर वास्तविकता तक पहुंचने के लिये उस समय कविता ही पथ-प्रदर्शक प्रमाणित होगी। कवि मनशूर बानिहाली कहते हैं—

मेरे हमदम, हमारा दोस्त कौन है और दुश्मन कौन ?
लुटेरे भी हम ही हैं और हम ही माणिकों की तरह—
अमूल्य हुआ करते थे
रणक्षेत्र में हम ही प्राण हथेली पर रख कर निकले थे
और बैठकों में छिपे बैठे मुखबिर भी हम ही थे
सिनेमा हालों के मालिक कोई और नहीं हम ही हैं
और इस ज़ियारत के मुजाविर कोई और नहीं
हम ही थे

जनता को गलत रास्ते पर डालने वाले लोगों की धोखाधड़ी और विश्वासघात हर कवि के मन में तीव्रतम उथल-पुथल पैदा करने के लिये पर्याप्त है। धोखे और तस्करी की चोट से प्रत्येक कविमन बेतरह छटपटा रहा है। कवि का क्रन्दन एक अकेले का क्रन्दन नहीं होता समस्त जाति का होता है। यह रोदन अकेले का नहीं समूचे कश्मीरी समाज का है। सामाजिक, नैतिक तथा धार्मिक मूल्यों की दुहाई देकर स्वार्थी तत्त्वों ने पूरे समाज को खोखला करके रख दिया है। कवि के हाथ में कोई जादू की छड़ी तो नहीं पर वह खून के आंसू रोये बिना नहीं रह सकता। रफीक 'राज़' कहते हैं—

कागज़ पर किरणों की नदी बह रही है
उंगलियों को जलाकर इस सियाह रात में तुमने दीपक तो नहीं जलाये

और गुलाम अहमद 'गाश' आकुल हैं कि—

आग पर चलते-चलते दिन ढल जाता है
शाम को थक कर गम मेरे पास आ बैठते हैं

शाह रमज़ान को दुख है कि—

समझौता करके भी मुझे अनहोनी को होनी कहना पड़ा
इरफान के मतवालो दीवानगी की बात करो

कृति को कृतिकार से अलग नहीं किया जा सकता और हर कृति के अन्दर उसके रचयिता का अन्तर विद्यमान रहता है। इसका सुस्पष्ट उदाहरण आज की कश्मीरी कविता है। इस तथ्य के जानकार कि कश्मीरी में लिखने वाले घाटी के अन्दर रहने वाले कवि तथा घाटी से पलायन को मजबूर कश्मीरी कवि दुःख और कष्टों के कांटों के घने जंगल

में लहूलुहान हो रहे हैं, पर दोनों के दुख-दर्द की अभिव्यक्ति का रंग भिन्न, और लहजा भिन्न है. प्रयोग भिन्न है। घाटी है। घाटी के कवि अपने घर में हैं। पर उन्हें घर से निकलने पर ठीक-ठाक पुन: लौट कर आने की कोई गारन्टी नहीं। उनका घर उनका वातावरण, उनकी सम्पत्ति यानि सर्वस्व छिन गया है। बसेरा ढूंढने के लिए उनको दर-दर की ठोकरें खानी पड़ती हैं। उन्हें घर की भी याद सता रही है और पास-पड़ोस की भी। गुलाम रसूल 'सन्तोष' कहते हैं—

शवों को कन्धों पर उठाये हमारे शरीर दाग-दाग हैं
चिनार की छाया में धूनी रमाने वाले साधु चल दिये
धनवानों को कोने में धकेल दिया गया है
बर्तनों की टोकरी सिर पर उठाये
बूढ़ी पोशकुजी
दर-दर भटक रही है

और जब मेरे कवि को घर की याद आती है तो गिल* को सम्बोधित करते हुए वह पुकार उठता है—

री गिल ! सलोनी चिड़िया !
यदि मैं पक्षी होता तो यहां आने की सोचता तक नहीं
और न ही विपदा में पड़ता
मैं कुछ क्षण वृक्ष के खोखले तने में छिप बैठता
अगर बाहर निकलता भी
तो जंगली पीपल की ऊंचाई से ऊपर जा उड़ता
वर्षा के दिन किसी चट्टान की ओट में देर तक सो रहता
अरी ओ गिल ! तुम तो परिवार वाली हो और मेरा जीवन—
मेरे कर्मों का फल है

○

मेरी आंखों के सामने वह तम्बू-बस्ती
नये खानाबदोशों का शहर
तार-तार तम्बू
हवा का एक झोंका उखाड़ देता है जिनकी खूंटियां
किसी प्राचीन नगर के खण्डहरों का आभास देती है
और सारी बस्ती
वर्षा बरसे तो सभी लोग कीचड़ में लथपथ

---

* (कश्मीर की अत्यन्त सुकुमार मनोहर एक चिड़िया जो छह मास कश्मीर में धान के खेतों में रहती है और सर्दियों में कहीं उड़ जाती है।

पत्थरों पर लगाये गये तम्बू
गर्मी में दहकते अलाव हैं
लगता है कि बारूद सुलग रहा है

दर्द सांझा है मगर इस दुख की टीस और जलन का अनुमान अलग-अलग है। वाई० बी० यीट्स ने बड़े पते की बात कही है कि मेरे अस्तित्व के साथ मेरे तनाव को मेरे बिना किस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है। यह कथन इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि आज का कश्मीरी कवि स्वप्न लोक की सैर छोड़ कर अपने यथार्थ के धरातल पर आ गया है और अपने सीने में सुलग रही आग से उत्पन्न जलन की व्यथा को व्यक्त किये बिना अपने दिल का बोझ हलका नहीं कर पा रहा है क्योंकि साहित्य साहित्यकार की ज़ात का प्रतिबिम्ब है जिस पर उसकी चिन्ताओं और खुशियों का आवरण पड़ा रहता है। हां एक बात जरूर है कि कला का छोर छोड़ना नहीं चाहिए वरन् व्यक्ति की अभिव्यक्ति समूचे समाज का एहसास नहीं बन पाती।

कश्मीरी कवि को अपने वातावरण अपनी भूमि और अपने सन्दर्भों से कट कर अकेलेपन और असहायावस्था में कोई रास्ता नज़र नहीं आया। शीतल-शान्त एवं मनोरम जल-वायु के मतवालों को जब ग्रीष्म के यौवन की तीव्रता का सामना करना पड़ा तो उन्हें इस लोक में ही परलोक दिखाई देने लगा। उस कविता में कवित्व और कला तो है पर एक-एक शब्द तेज धार तलवार के वार की कोटि में आ गया है। चमन लाल 'चमन' का कहना है कि—

मैं भी ठिकाना किये हुए था
मेरा घर बसा भी था
इसमें दिया प्रज्ज्वलित था
उधार ज़मीन पर रहना उधार ही है
मैं अपनी चाहों को कैसे संयत करूं

○

उसे आना हो तो आये
कोई फर्क नहीं पड़ता अब मेरे लिए
मैं तो सरेराह बैठा हूं
मेरा खून जम गया है और बाल सफेद हो गये हैं
फिर भी मैं उससे पूछूंगा—
तुमने मेरी चाहत और मेरे घरबार के साथ
यह कैसा खिलवाड़ किया

रास्ते से दूर पड़ा हूं कहां-कहां जा पाऊंगा
अंगारों पर सोना वेदना की सीमा है
मेरी आंख के तारे मैं आंखें ही तुम पर न्योछावर करता
पर उम्र भर अंधेरे में धंसा रहा

घाटी में कश्मीरी पुस्तकों तथा पत्रिकाओं के प्रकाशन में पिछले छह-सात वर्षों के अन्दर सीमातीत अनियमितता आयी है। जिस कारण अत्यल्प संख्या में पुस्तकें प्रकाशित हो सकी हैं। इनमें 'व्वो'लरु'क्य मलर', 'व्यथि आगुर' और 'अनहार' आदि संस्थाएं सम्मिलित हैं। 'काऽशुर समाचार (दिल्ली), 'वितस्ता' (कलकत्ता) और 'खीर भवानी टाइम्ज़ (जम्मू) आदि में कश्मीरी रचनाएं प्रकाशित होती रहीं, पर, देवनागरी लिपि में छपने के कारण ये रचनाएं इस लिपि से अनभिज्ञ लोगों तक नहीं पहुंच पाईं।

गत वर्षों में कश्मीरी के कुछ कविता संकलन साहित्य अकादमी तथा प्रान्तीय अकादमी द्वारा पुरस्कृत हुए।

1. 'पऽद्य समयिक्य' : अर्जुनदेव 'मजबूर'।
2. 'अनहार' : शफी शैदा
3. 'नार ह्यो'तुन कज़ल वनस' : फारूक नाज़की

उथल-पुथल और अविश्वस्तता की इस धुंध में भी कई कवि अपने अन्तस को संगीत से गुन रहे हैं। इन कवियों में मही-उ-द्दीन 'नवाज़' की कविता वह रसीला गीत है जो पाठक को रस विभोर कर देता है। 'नवाज़' विशुद्ध कवि हैं। उनकी कविता अध्यातम की सुगन्ध से सुगन्धित है और प्रयोगों की गहराई व रंगीनी ने इसे एक आकर्षक जादू महल-सा बना दिया है। 'नवाज़' उधार का नहीं नकद दिल का शायर है। अनवरत खोज की लय का कवि 'नवाज़' हर बात अपने अन्दाज़ से कहने का अभ्यस्त है—

री सखि!
तुमने मेरे उस अलबेले साजन को तो नहीं देखा?
उसी साजन को
जो अपने और पराये का भेद नहीं जानता

कालांतर में प्रगतिवाद और यथार्थवाद में रमी कश्मीरी कविता वर्तमान नव्यता की तलाश में नई कविता की ओर मुड़ गयी है। परिस्थितियों के उलटफेर ने कश्मीरी

कविता को उस भयावह त्रासदी के भंवर में डाल दिया जिससे वह एक नये मोड़, एक नई मंजिल पर आ खड़ी हो गयी है।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस का कथन है— 'हम लोग नमक के पुतले हैं और सागर के तल तक पहुंचना चाहते हैं। सागर तल तक पहुंचना तो ठीक है परन्तु पहले हमें पानी में घुल जाना है।' और...सशक्त कविता की रचना तो तभी सम्भव है, जब हम नमक की तरह पानी में घुलकर सागर के तल तक पहुंच पायें। ०००

☐ अनु० पृथ्वीनाथ मधुप

आग्रह !

वर्तमान कथा साहित्य में कामकाजी महिलाएं

□ डॉ॰ ज़ोहरा अफ़ज़ल

इतिहास साक्षी है कि अपने दैवी गुणों से सम्पन्न भारतीय नारी ने यह सिद्ध किया है कि वह पुरुषों से किसी भी प्रकार उन्नीस नहीं है।

आज नारी के चरित्र और उसकी सोच में युगानुरूप परिवर्तन के साथ उसके आदर्शवादी रूप में भी परिवर्तन आया है। आज उसने आदर्शवादी मुखौटे को उतार फैंका है। कोरा आदर्श उसके लिए अब सापेक्ष नहीं रहा। भौतिक रूप से भले ही वह कितनी ही उन्नत क्यों न हो, आदर्श के परम्परागत संस्कार उसके मूल में समाये हुए हैं, जो उसकी समस्त आधुनिकता के वावजूद कहीं न कहीं प्रकट हो उठे हैं।

पूर्ववर्ती उपन्यासकारों में नारी के प्रति श्रद्धा भाव दिखाई देता है। चाहे जिस रूप में नारी का चित्रण किया गया हो पर उसके प्रति लेखक की सदैव सहानूभूति रही है। किन्तु आधुनिक काल में नारी के प्रति-दृष्टिकोण ने यकायक पलटा खाया और पुरुष समाज सचेत हुआ। सर्वप्रथम प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में नारी पर हो रहे अत्याचारों के विरुद्ध आवाज़ उठायी और कालान्तर में इससे समूचा लेखन प्रभावित हुआ।

इन बदलते संदर्भों एवं विविध रूपों में कहीं नारी परम्परागत दिखाई देती है तो कहीं आधुनिका के रूप में। कभी वह इन दोनों के बीच की स्थिति से गुज़रती हुई भी दिखाई देती है। सातवां दशक नारी चेतना की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण युग माना जा सकता है। आज नारी के स्वरूप को लेखकों ने उसके सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, व्यक्तिवादी, परम्परागत तथा परिवर्तित दृष्टिकोणों से देखने परखने का प्रयास किया है और उसका कारण है—बदलते मूल्य। जब परिस्थितियां बदलती हैं तो मानव सम्बन्धों में भी बदलाव आने लगता है और मूल्य भी परिवर्तित होने लगते हैं। नारी आज घर की चार दीवारी में बन्दी का जीवन न बिताकर घर से बाहर निकल कर, जितना बाहरी संसार को देखने

परखने का प्रयास कर रही है, उतनी ही उसके शोषण की सम्भावनाएं भी बढ़ रही हैं।

नारी के इसी बदलते स्वरूप को आज के साहित्यकार ने अपना विषय बनाया है। आज के लेखक की सहानुभूति उन नारी पात्रों के प्रति अधिक है जो समाज की बुराइयों से लड़कर अपने जीवन को प्रगतिशील बनाने और संवारने में लगे हैं। इनमें से कहीं तो उसे इस संघर्ष में सफलता मिलती है और कहीं फिर उसी संघर्ष को चक्की में पिसती दिखाई देती है। आज का लेखक नारी को उसका वास्तविक अधिकार व स्थान देने दिलाने के पक्ष में है। वह उसके व्यक्तित्व का विकास देखना चाहता है। सातवें दशक के कथा साहित्य में संयुक्त परिवार में प्रचलित कुप्रथाओं की शिकार नारी को उसके मन में इन कुप्रथाओं के प्रति जो आक्रोश और घृणा है उसे दर्शाने का प्रयास हुआ है। आज उसकी दयनीय अवस्था में परिवर्तन तो आया है किन्तु अभी भी वह कितनी असहाय है इसका आभास हमें 'लक्ष्मी नारायण लाल' के प्रेम अपवित्र नदी, मनहार चौहान के 'कोई एक घर' राजेन्द्र यादव के 'शह और मात' आदि जैसे कई उपन्यासों में मिलता है। शून्य की बाहों में, की नायिका बाहर से कितनी विवश है किन्तु उसके भीतर कैसा ज्वालामुखी पक रहा है जो एकाएक इन शब्दों के माध्यम से फूट पड़ता है—"हम व्यक्ति को सम्पूर्णता में क्यों नहीं देख पाते, क्यों नहीं समझते कि हमें उसे ही आचरित करना है जो हमारे बाल बच्चों, हमारे समाज. हमारे देश को सुखमय बना दे—औरत की पवित्रता सात फेरों के अन्दर जो गुल चाहो खिला लो किन्तु खुले आम..."। प्रेमचन्द से पूर्व और प्रेमचन्द युग में भी परम्परा से हट कर नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती थी किन्तु आज वह धीरे-धीरे शिक्षित होकर स्वावलम्बी बन रही है और उसके व्यक्तित्व का विकास हो रहा है। 'विद्रोह' (मेहरून्निसा परवेज़) की नायिका विवाह न करके अपने माता-पिता, भाई-बहिन का पालन-पोषण स्वयं करती है। 'पचपन खम्भे लाल दीवार' (उषा प्रियवंदा) की सुषमा भी मध्यवर्ग के ऐसे परिवार की सदस्या है जो आर्थिक रूप से पूर्णतया उसी पर निर्भर है।

अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का उद्घोष करती हुई और जीवन से संघर्ष करती हुई नारी के दर्शन आधुनिक उपन्यासों में ही अधिकतर होते हैं। उसके संघर्ष क्षेत्र में कूद पड़ने के अनेक कारण हैं। खेतों में पुरुषों के साथ काम तो वह शुरू से ही करती आई है। युग-परिवर्तन के साथ-साथ स्त्रियों का कार्यक्षेत्र भी परिवर्तित हो गया है। वे अब नौकरी भी करने लगी हैं और यह नौकरी वे केवल आर्थिक संकटों को दूर करने के लिए ही नहीं करती अपितु उसके कई अन्य कारण भी हैं।

नौकरी आज प्रत्येक शिक्षित अथवा अशिक्षित महिला की आवश्यकता बन गयी है। आज की परिस्थितियां ही इतनी विषम हैं। कल्पना भी नहीं की जा सकती कि एकजन सारे परिवार का भरण पोषण करे। आज प्रत्येक सदस्य की अपनी-अपनी आवश्यकताएं हैं और यह किसी भी प्रकार सम्भव नहीं कि परिवार का एक व्यक्ति सभी की आवश्यकताओं की पूर्ति करे। यही कारण है कि आज नारी भी कार्य-क्षेत्र में उतर पड़ी है। समय बदलने के

साथ-साथ सोच में भी परिवर्तन आया है, पहले औरत का नौकरी करना अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था, केवल वे ही स्त्रियां नौकरी करती थीं जो बिल्कुल असहाय होती थीं। किन्तु अब बड़ी संख्या में वे कारखानों, दफ्तरों और अन्य संस्थाओं में काम करती हैं। अब उन्हें फौज में भी अधिक मात्रा में भरती किया जा रहा है। आज वे जहाज तक चलाना सीख चुकी हैं। नौकरी केवल वे महिलायें ही नहीं करतीं जो शिक्षित हैं बल्कि हम बहुत-सी अशिक्षित महिलाओं को भी नौकरी करते पाते हैं—घरों में झाड़ू, पोंछा करने वाली, बर्तन साफ करने वाली या कपड़े धोने वाली महिलाओं से तो हमारा रोज का वास्ता है वे बड़ी-बड़ी इमारतों के निर्माण एवं अन्य निर्माण कार्यों से भी जुड़ी दिखाई देती हैं। इनके अतिरिक्त लिफाफे, बीड़ी बनाना, सब्जी बेचना, चाय की दुकान चलाना आदि। इस प्रकार की महिलाओं का चित्रण प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों और कहानियों में किया है। गबन, रंगभूमि, कफ़न आदि इसका प्रमाण हैं। किन्तु उस समय शिक्षित महिलाओं की संख्या बहुत न्यून होती थी, इसी कारण उस समय के कथा साहित्य में शिक्षित महिलाएं नौकरी करती हुई बहुत कम बल्कि न के बराबर ही दिखाई देती थीं, दूसरे यह कि तब परिस्थितियां भी इतनी विषम नहीं थीं—मध्यम वर्ग और उच्च वर्ग की स्त्रियों को नौकरी करने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती थी, केवल निम्न वर्ग या मजदूर वर्ग की स्त्रियां ही नौकरी या मजदूरी करती थीं।

यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक पढ़ी-लिखी नारी नौकरी ही करे, परन्तु आज की परिस्थितियों में यह हमारे जीवन की एक बहुत बड़ी आवश्यकता बन चुकी है। इसके अतिरिक्त यदि किसी को नौकरी की आवश्यकता भी नहीं तो भी अधिकांश इस कारण से नौकरी करना चाहती हैं कि इतनी शिक्षित होकर घर निठल्ले बैठने से तो बाहर निकल कर समाज में अपना एक स्थान बनाना, श्रेयस्कर है। आज अच्छे परिवारों की लड़कियां, बहू-बेटियां नौकरी करने में गर्व अनुभव करती हैं, उनके माता-पिता को भी कोई आपत्ति नहीं होती—जबकि पहले घरानों में इस बात को उपयुक्त नहीं माना जाता था। आज तो माता-पिता वही बहू लाना पसन्द करते हैं जो नौकरी करती हो।

आज कुछ तो इस कारण भी नौकरी करती हैं क्योंकि वह अपने जीवन में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप सहन नहीं करतीं। वे स्वतन्त्रता पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करना चाहती हैं। अपने इसी कारण कुछ तो आजीवन अविवाहित रहती हैं। आज प्रत्येक क्षेत्र में नारी काम कर रही है जैसे—डॉक्टर, नर्स, शिक्षिका, क्लर्क, विमान-संचालिका, विमान-परिचालिका, पुलिस अधिकारी इत्यादि।

मुंशी प्रेमचन्द ऐसे कथा लेखक थे जिनके कथा साहित्य में पहली बार जन-जीवन और विशेष रूप से मध्यवर्गीय जीवन और उसमें भी नारी की समस्याओं को कलात्मक रूप से चित्रित किया गया है। प्रेमचन्द "पर्दे में कैद, पग-पग पर लांछित और असहाय नारी जाति की महिमा के जबर्दस्त वकील थे।" (हजारी प्रसाद द्विवेदी) गोदान हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है और इसी गोदान से नारी अपनी समस्याओं के साथ इस समाज में उपस्थित है। मालती के रूप में प्रेमचन्द एक ऐसी नारी की सृष्टि करते हैं जो गोदान के कई पात्रों को उंगलियों पर नचाती है किन्तु बाद में उसमें परिवर्तन आता है और वह

समाज-सेविका बन जाती है। मालती एक डॉक्टर है जो अपने व्यवसाय से धन कमा कर जीवन व्यतीत करती है। प्रेमचन्द के आरम्भिक उपन्यासों में नौकरी-पेशा नारी का कहीं चित्रण नहीं मिलता किन्तु उनके अन्तिम वर्षों के कुछ उपन्यासों में महिलाए शिक्षित होकर नौकरी करती दिखाई देती हैं; किन्तु स्वावलम्बी होने के लिए नहीं बल्कि परिस्थिति वश काम करती हैं।

कुछ प्रगतिवादी लेखक नारी को घर की चारदीवारी से बाहर लाकर पुरुष के बराबर खड़ा करना चाहते थे किन्तु भारत जैसे अन्धविश्वासी देश में यह इतना सहज नहीं था, यह परिवर्तन धीरे-धीरे ही सम्भव था, और हुआ भी यही 1960 से आज तक नारी नित नये रूप में दिखाई देती है। मन्नू भण्डारी की 'दरार भरने की दरार' की श्रुति दी को इस बात पर गर्व है कि वह अपने पति पर निर्भर नहीं है, वह अपना पालन-पोषण स्वयं कर सकती है। इन्हीं की अन्य कहानी 'क्षय' की कुन्ती को परिवार में सबसे बड़ी होने के कारण घर का सारा बोझ उठाना पड़ता है। पिता को क्षय रोग होने के कारण घर के सदस्यों का पालन-पोषण उसी को करना पड़ता है। 'मेहरुन्निसा परवेज' के उपन्यास 'कोर्जा' की कम्मो को चाची और अपना भरण-पोषण करने के लिए नौकरी करनी पड़ती है। इसी प्रकार 'शशि प्रभा शास्त्री' की 'नावें' की मालती को शिक्षा समाप्त करने के बाद घर की आर्थिक स्थिति सम्भालने के लिए दिल्ली से गाजियाबाद नौकरी के लिए जाना पड़ता है। 'मन्नू भण्डारी' के 'आपका बंटी' की शकुन और 'मेहरुन्निसा परवेज' की 'विद्रोह' कहानी की नीना भी ऐसी ही नारी है जो अन्य अनब्याही लड़कियों की भांति स्वप्न देखती है। वह भी अन्य लड़कियों की भांति विवाह करके अपना घर बसाना चाहती हैं किन्तु घर की आर्थिक स्थिति उसे नौकरी करके अपनी समस्त इच्छाओं का दमन करने पर विवश कर देती है।

इस प्रकार आधुनिक काल में प्राय: सभी कहानी और उपन्यासों में कहीं न कहीं, कोई न कोई नौकरी पेशा स्त्री पात्र अवश्य मिलता है। नौकरी परिस्थिति वश की गई हो या उसका कोई भी अन्य कारण हो, नौकरी पेशा नारी को जीवन में अनेक समस्याओं और उलझनों से जूझना पड़ता है। 'कृष्णा अग्निहोत्री' की कहानी 'क्रास नम्बर बीस' की शिखा भी आर्थिक संकट के कारण ही नौकरी करती है किन्तु उसके पति को उसके किसी भी दु:ख का ध्यान नहीं। वह सास के दो मीठे बोलों के लिए तरसती रहती है।

इतने त्याग, और सेवा के बदले जब इस अबला को घृणा ही मिली तो एकाएक वह अबला से सबला बन बैठी। उसकी सोच और उसके व्यवहार में एक परिवर्तन आया, उसमें साहस की एक किरन कौंध उठी और तब वह अपने आत्म-सम्मान की रक्षा और जीवन की समस्याओं से जूझने के लिए कमर कस कर अपने पैरों पर खड़ा होने का निश्चय कर उठी। उसका यही बदला हुआ रूप हमें तत्कालीन कथा-साहित्य में देखने को मिलता है। सूर्यबाला, मालती जोशी और 'निरूपमा सेवती' ने अपनी कहानियों में अधिकतर नौकरी-पेशा अविवाहित नारी की समस्याओं का वर्णन किया है। एक ऐसी नारी जो स्वतन्त्रता की कामना करती है और अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए वह सभी सम्बन्धों को नकार देती है। 'कृष्णा अग्निहोत्री' की 'कुमारिकाएं' ऐसी ही महिलाओं पर लिखा गया उपन्यास है जो परिवार का बोझ ढोते-ढोते कुंवारी रह जाती हैं। 'निरूपमा सेवती' की कहानी 'सब में

से एक' भी 'मैं' पिता द्वारा तय किये गये रिश्ते को ठुकरा कर बिल्कुल भी विचलित नहीं होती। 'ऐ खाने-आकाश नाई' की सुषमा भी अविवाहित है और अपनी इच्छानुसार विवाह करना चाहती है किन्तु घर वालों का सहयोग न मिलने के कारण विदेश जाकर सबके साथ सम्बन्ध विच्छेद कर लेती है। 'शशि प्रभा शास्त्री' की कहानी 'अगर बत्ती' में एक ऐसी मेहनत कश स्त्री का चित्रण है जो मेहनत मजदूरी करके अपने बच्चों को पढ़ाती है। उषा प्रियंवदा के उपन्यास 'पचपन खम्भे लाल दीवार' की सुषमा की त्रासदी भावना और कर्तव्य के बीच की त्रासदी है।

इस प्रकार सम्पूर्ण कथा साहित्य में हर कहीं कामकाजी नारी विद्यमान है। मुख्य रूप से तो अपने तथा अपने परिवार की आर्थिक स्थिति सम्भालने के लिए ही नौकरी करने वाली महिलाओं की संख्या ही अधिक है। समय व्यतीत करने और अपने को व्यस्त रखने के लिए नौकरी करने वालों की संख्या बहुत कम। अतः अब नारी आर्थिक रूप से पराधीन नहीं है। वह अपने साथ-साथ दूसरों का भी भरण-पोषण कर सकती है। बहरहाल नीति पहले की हो या अब की, कामकाज आज की महिलाओं के जीवन की अनिवार्यता और प्रतिष्ठा हो गया है जो साहित्य में हर कहीं स्थापित है। □

शीराज़ा के शीघ्र प्रकाश्य

'नयी कलम विशेषांक'

के लिए जम्मू-कश्मीर राज्य तथा राज्येतर शिक्षा संस्थाओं के नये हस्ताक्षरों की रचनाएँ आमंत्रित हैं, शीघ्र भेजें। —सं.

बातें दूसरी दुनिया की

देवताओं के वाहन

□ डॉ० रतन लाल शांत

देवताओं के बारे में कुछ भी लिखते समय इस प्रकार के आधारभूत प्रश्न उठ सकते हैं—देवत्व और ईश्वरत्व में क्या अंतर माना गया है ? क्या ईश्वरत्व या ब्रह्मत्व सदा सर्वनिरपेक्ष माना गया है ? क्या ऐसा नहीं है कि किन्हीं विशेष स्थितियों में साधारण देवत्व भी साधारणतीत हो जाता है, वरन् देवत्व सापेक्षता के घेरों में ही बधा रह जाता है ? क्या वास्तव में ईश्वरत्व तथा देवत्व की बदलती परिकल्पनाओं को वेद पुराण तथा इतर साहित्य के रचनाकाल के प्रकाश में ही समझा जा सकता है ? आदि आदि... यह सच है कि ऐसे प्रश्न आस्था या धर्म या दर्शन के अलावा विषयगत वैज्ञानिक अध्ययन से भी हल किए जा सकते हैं। संस्कृति के विकास या सभ्यता की उन्नति आदि के संदर्भ में भी देव अदेव की परिकल्पना को व्याख्यायित किया जाता है। जो भी हो, हम यहां इस प्रकार की किसी व्याख्या या विश्लेषण में न पड़ते हुए देवताओं से संबद्ध एक रोचक पहलू को ही ले रहे हैं। हम सामान्य लोकप्रिय देवताओं के केवल वाहनों की परिकल्पना के बारे में मात्र एक रवैया रेखांकित करने का प्रयास करेंगे।

देवताओं के वाहनों के बारे में पहली बात यह याद रखनी होगी कि वाहन केवल अचल देवताओं के नहीं होते (वे हिमालय या सुमेरू जैसे पर्वत हों, अथवा ग्रह-उपग्रह, नदी-सागर जैसे निश्चित पथगामी) बल्कि चल देवताओं के भी, क्योंकि मर्त्यलोक से किसी भी प्रकार से जुड़ने कटने के कारण यात्रा के प्रकरण से उनको गुजरना ही पड़ता है। इस तरह हम देखते हैं कि देवता—(1) जरूरत बेजरूरत यात्राएं करते ही पाए जाते हैं; (2) कई बार पूर्व कार्यक्रम के बिना भी घूमने निकलने पर भी बड़ी महत्त्वपूर्ण घटनाओं के कारण या परिणाम बनते हैं और (3) इतनी शक्ति जरूर रखते हैं कि सिर्फ इच्छा करके ही कहीं से कहीं आ जा सकते हैं, हमेशा वाहन का इंतजार करने को मजबूर नहीं होते। यह तीसरी

स्थिति कम नहीं होती इसलिए प्रश्न उठता है कि तब वाहनों की आवश्यकता ही क्यों हुई ? क्यों बेचारे देवता को पशु या पक्षी के पालने की जिम्मेवारी उठानी पड़ती है जबकि सवारी और सवार का संबंध हमेशा नौकर और मालिक का नहीं रहता। वाहन अलग से भी कम महिमामण्डित देवता नहीं होते। वे भी पूजा के अधिकारी होते हैं।

एक और स्थिति यह है कि देवता इच्छा मात्र से किसी तरह के अपूर्व वाहन की रचना कर सकते हैं। बाण, आसन फूल पत्ती जैसी वस्तुएं भी वाहन बन कर सवारी को ले जा सकती हैं। ऐसे में किसी विशेष वाहन को ही अपने लिए आरक्षित करने की परम्परा क्यों ? यह सवाल समझाने का काम धर्म-शास्त्रियों का नहीं, सामान्य श्रद्धालुजन का तो और भी नहीं, क्योंकि इन लोगों के ध्यान का या श्रद्धा का लक्ष्य वह कार्य होता है जो शीघ्रगामी वाहन का प्रयोग करके किया जाता है। परिवहन का साधन जितना अपूर्व हो उतना देवता की शक्ति के प्रभाव का घेरा बढ़ता है।

देवताओं की कल्पना का इतिहास आदमी के इतिहास जितना ही पुराना है और इस कल्पना का आधार आदमी और प्रकृति के पारस्परिक संबंध हैं। पहले देवता ने पहले आदमी के मन में बैठे खतरों और आशाओं से जन्म लिया होगा और जब तक आदमी अपने वातावरण तथा परिस्थिति के प्रति शंकालु रहेगा, इन से भयभीत रहेगा, उसके मन में देवता एक आर्किटाइप बनकर मौजूद रहेगा। पुराने देवता रैशनलाइज होते रहेंगे या अप्रासंगिक करार दिए जाएंगे पर नये देवता, नये धर्मों के साथ या धर्मों से बाहर भी जन्म लेते रहेंगे। धर्म वस्तुत: धरती और भूगोल की स्थिति विशेष से उत्पन्न होते हैं और देवता इन स्थितियों में जन्म लेकर लोकवार्ता में प्रवेश करते हैं और लोक कल्पना के विविध आयाम पाते रहते हैं। आदमी के मन की गहराई इनका वास्तविक जन्म स्थान है। इस कारण ये आदमी का ही प्रतिरूप होते हैं और जब तक मनुष्य इतनी वैज्ञानिक उन्नति नहीं करता कि इच्छा यात्री हो सके तब तक वह देवताओं के साथ-साथ उनके सरल यात्रा के लिए नए नए वाहन भी गढ़ता रहेगा। यह भी सच है कि ऐसी प्राक्कल्पनाओं को वह साकार करने के प्रति प्रयत्न-शील भी रहेगा।

किस देवता के लिए किस धर्म में या किस देश की परिमिति में कौन वाहन निश्चित हुआ है, यह सूचना इकट्ठी करना या देना हमारा ध्येय नहीं। यह भी नहीं कि वाहनों का प्रचलित अर्थ किस प्रतीकार्थ तक ले जाया जा सकता है। प्रतीक योजना कैसी भी तर्क-सम्मत या दृष्टांत हो, निर्विवाद नहीं हो सकती, हालांकि ऐसी योजना के कई प्रयास हुए हैं। वास्तव में ऐसा कोई भी प्रयास अंतिम नहीं क्योंकि प्रतीक योजना काव्य-कल्पना की तरह अनंत आयामी हो सकती है। न ही भारतीय यमराज के वाहन भैंसे और यूनानी यूनीकार्न अथवा भारतीय गरूड़ और मिस्री फिनिक्स जैसे मिलते जुलते पशुओं की तुलना करने से देवताओं के वाहनों की रूचि-रुझान के बारे में कोई दो टूक फैसला दिया जा सकता है। हां, देवताओं की तरह उनके वाहनों के एक देश से दूसरे की मिथकावली में जाकर बदलने, अर्थांतर प्राप्त करने या अनुकूलित हो जाने का अध्ययन हो सकता है। पर यहां वाहनों का मूल प्रासंगिक प्रश्न यह है कि देवता क्यों और कब यात्रा करते हैं और उनकी

उपयोगिता कब सिद्ध होती है ? एक विद्वान के अनुसार भारतीय ऋषि ने देवता को अपने सुख-दुख के साथी के रूप में कल्पित किया, जिससे यज्ञ में आहुति देकर बुलाकर आशीर्वाद और संरक्षण मांगा जाता था। अग्नि सोम, मरुत, सविता जैसे वैदिक देवता अपने भाग का हव्य पाने के लिए वाहन पर आते थे। यदि होता कोई राजर्षि होता तो अतिथि के साथ साथ अतिथि के वाहन का भी सत्कार होता, नियमों के, आधुनिक प्रोटोकोल के नियमों की तरह। वाहन तो स्वयं भी देवता माने गए हैं और यदि भगवान विष्णु की बगल में गरुड़ देवता और शंकर की बगल में नंदी को बिठाया गया होता तो सत्कार के न्यूनाधिक होने का प्रश्न ही नहीं होता। कुछ वाहन-देवों का अपना स्वतंत्र प्रभावी क्षेत्र रहा है और वह उन पर सवार देवों की सत्ता के हस्तक्षेप की पहुंच से बाहर रहा हैं। नंदी की स्वतंत्र सत्ता धर्म के प्रतिनिधि की है, शेषनाग की नीति के। विष्णु और शेषनाग सवार और सवारी के स्वामी-दास संबंधों से कहीं उच्चतर संबंधों में बंध जाते हैं जब वे राम लक्ष्मण और कृष्ण बलराम अवतार धारण करते हैं। लगता है कि इन देवताओं के रचयिता भारतीय मानस ने इनका अलौकिकत्व से सम्पन्न करते हुए इन्हें अपनी कल्पना शक्ति और कल्पना-कौतुक के अधीन बनाए रखा कि कहीं रचना सर्जक से मुक्ति की घोषणा करके अराजक न हो जाए। एॅप्रोच वही मूर्तिकार या चित्रकार की है जो रचना सामग्री (मिट्टी या धातु) को जब चाहे नए सांचे में ढाल सकता है, ठोस आकारबद्धता को विकृत या अरूप बना कर नए सर्जन की संभावनाओं के द्वार खुले रख सकता है। इसी कारण तो देवता अमर होकर भी मर्त्यलोक में आकर मनुष्य का न भी मिले, पशु पक्षी का ही रूप धारण करके जिंदगी के क्षण गुजारने की स्पृहा में तड़पता है। देवता भी, देवता का वाहन भी। इस लिहाज से अभारतीय देवता यहां के देवों की मूल प्रकृति और मूल अभिप्राय से ही भिन्न हैं। एक तो उधर वाहन की अलग कोई सत्ता नहीं, दूसरे उनकी रचना अंतिम है क्योंकि उधर के धर्म अपनी किस्म की रचनाशीलता की अंतिम कड़ी हैं।

भारतीय जन अब तक विश्वास करता है कि वह यज्ञ करके देवता को अपनी जिंदगी के सुख दुख का भागीदार बनाएगा। यह उपक्रम अरबी चीनी ईरानी जापानी इज़राइली या अफ्रीकी जातियों के उपक्रम से अलग है। कारण—जातियों के 'इथॉस' की भिन्नता। एक बात सब मिथकावलियों में सांझी है (जहां धर्म के मूलभूत सिद्धांतों में आदिगुरु या पंथप्रतिपादक या पैगम्बर के साथ ही उत्तरोत्तर मिथकनिर्माण की प्रक्रिया बंद घोषित की गई, वहां प्रचार की वृत्ति में मिथकनिर्माण की प्रवृत्ति मौजूद रहती है और अपेक्षाकृत अधिक ऐतिहासिक व्यक्तियों और घटनाओं के निर्दयीमिथकों का आलोक फैलता रहा है) वह यह कि मनुष्य आदिमयुग से ही खुद को यह आश्वासन देने का प्रबंध करता रहा है और करता रहेगा कि इस कठोर दुनिया में वह यों ही नहीं आया, उसका कोई अतिप्राकृतिक या पराप्राकृतिक उद्देश्य है। इसलिए अतिप्राकृतिक शक्तियां उसके हित-अहित को लगातार देखती रहती हैं (या देखती रहनी चाहिएं) और उसके आह्वान पर झट आ पहुंचने में वाहन उनकी विशेष सहायता करते हैं।

देवताओं की अपनी जिंदगी फूलों की सेज पर नहीं बीतती, कांटे उनकी राह में कदम कदम पर बिखरे होते हैं, प्रतिबद्ध खलनायक उनकी नींद हराम करने को सदा सन्नद्ध रहते हैं, और बढ़ी हुई उनकी आकांक्षाएं उनके विवेक का संतुलन बिगाड़ देती हैं

और वे खुद को अवांछित मुश्किलों की दलदल में फंसा पाते हैं। एक देवता दूसरे को मदद के लिए ऐसे गुहारता है कि उनकी दयनीय दशा पर नश्वर मानव भी तरस खाए और अपने मर्त्य साधनों की मदद प्रस्तुत करे। ऐसे में उनके लिए परिवहन के साधनों की उपयोगिता कितनी होती होगी, यह हम जान लें तो कभी उन्हें भागकर अपने यहां धरती पर बुलाने की ज़िद न करें और इस तरह देवों के वाहन संगठन पर यह निवार्य बोझ न डालें। हम यह सहानुभूति के साथ समझ लें कि जाने कब अमर देवताओं पर संकट के बादल छा जायें (मसलन यह कि चिंतामुक्त जीवन गुज़ारते भद्र देवों की पूरी बस्ती, नगर द्वार पर अचानक प्रकट हुए किसी मांसलोलुप पिशाच से भयभीत हो उठे) और किस प्रकार देवता को मीठी नींद तथा मधुरांगी का संग सुख छोड़ कर अचानक जाना पड़ जाय। वाहन इस राजकीय काम में प्रयुक्त होगा कि अनधिकृत रूप से देवों की प्राइवेट प्रैक्टिस के लिए, जहां उन्हें हव्य मिल सकता है।

प्रयोग का उद्देश्य या विधि कोई भी हो, इतना स्पष्ट है कि वाहन की कल्पना शुरू से ही गति और क्षिप्रता को लक्ष्य में रखकर की गई है। आदिकाल में घोड़े या बैल का वहन कार्य में नियोजन तथा चक्र का आविष्कार गति की संभावना के उच्चतम शिखर थे। इसलिए कई पूर्वी तथा पश्चिमी देवता इन पशुओं और चक्रों के संयोजन से बने रथों पर बैठकर ही यात्रा करते थे। यह बात और है कि गति की तीव्रता की पूर्वकल्पना कैसी की जाती थी और भिन्न स्थितियों में कितने पशुओं से (सुआ से पक्षियों से भी) कितने चक्रों वाले रथ कल्पित किए गए। लेकिन रथ ही गति के साथ यात्रियों को पहुंचाने के प्रभावी साधन थे, ऐसा नहीं। बिना रथ के भी, कैसे भी वाहन हों, गंतव्य तक पहुंचाने में कम नहीं थे। चूहा और मोर, शेर और बाज़, मगरमच्छ और वानर सब अपने अपने प्रभु के एक समान वफ़ादार होकर उन्हें तुरंत आवश्यक स्थान पर पहुंचा देते हैं। ये पशु पक्षी धरती के हैं, यद्यपि अपवाद रूप में कहीं इनके रूप और योग्यताओं में आवश्यक संशोधन किया गया है। भारतीय वाहन देवता तो, खैर, बोल भी लेते हैं और अन्य मानवीय प्रतिभाओं से सम्पन्न होते ही हैं। अभारतीय देववाहनों में कम-से-कम एक उदाहरण ऐसे घोड़े का मिलता है, जिसकी लौकिक गति में अलौकिकता का मिश्रण करने के लिए पैरों की शक्ति के अलावा पंखों की भी शक्ति की कल्पना की गई है। मूलतः इन वाहनों की सीमाएं पार्थिव हैं लेकिन और इन्हें अति-प्राकृतिक बनाने की ललक की प्रेरणा यह रही है कि पृथ्वी पर की इनकी सीमित गति को असीम बनाया जा सके। तरह धरती पर जो सीमित चेष्टावान है या निश्चेष्ट भी है वह मिथकावली में चल हो जाता है और चेतन ही नहीं, जड़ भी देवताओं के गतिमान वाहन की तरह प्रयोग में लाया जा सकता है। □

कृति आकलन

मुट्ठी भर रौशनी

□ मनोज शर्मा

वर्ष 1995 में "आधार प्रकाशन" की ओर से प्रकाशित डॉ० अमरजीत कौंके का काव्य-संग्रह "मुट्ठी भर रौशनी" काव्य संग्रह "भाषा विभाग पटियाला" के सहयोग से प्रकाशित हुआ। इसका आवरण "इमरोज़" ने डिजाइन किया है। संग्रह में कुल 45 कविताएं हैं तथा सजिल्द संस्करण का मूल्य, मात्र 50 रुपए है।

डॉ० अमरजीत कौंके पेशे से अध्यापन में हैं। लुधियाना में 27 अगस्त, 1964 को जन्मे डॉ० कौंके के पंजाबी में तीन कविता-संग्रह, "निर्वाण दी तलाश", "द्वंद्वकथा' तथा "यक़ीन' प्रकाशित हो चुके हैं। आपने कथाकार हिमांशु जोशी, मिथिलेश्वर और कवि नरेश मेहता, केदारनाथ सिंह का पंजाबी में अनुवाद भी किया है। पंजाबी की समकालीन कविता में तो डॉ० कौंके को एक स्थापत्य हासिल हो चुका है। पिछले दिनों जब "बलबीर परवाना" ने समकालीन पंजाबी कविता को सम्पादित करके एक संकलन "नवें दिसहद्दियां दी तला।" निकाला, तब डॉ० कौंके को उसने जीवन्त स्वप्नों का टिप्पणीकर्ता कहा। "मुटठी भर रौशनी" में यह सत्य कई बार उभरता भी है। हिन्दी कविता में तो उनकी उपस्थिति दर्ज होनी शुरू हो ही चुकी है। उनकी कई कविताएं बंगला, असमिया व कन्नड़ भाषा में भी प्रकाशित हो चुकी हैं। हिन्दी पत्रिकाएं 'दस्तावेज़" व "सर्वनाश" के पंजाबी साहित्य पर केन्द्रित विशेषांकों में उनका चुनाव व अनुवाद भी चर्चित हुआ है। एक पत्रिका "समानांतर" का भी आपने सम्पादन किया है।

उनके इस संग्रह में "बाढ़" पर चार कविताएं अद्भुत हैं। केवल इन कविताओं के बल पर ही कवि का विचार, उसका मुहावरा, उसकी भाषा-शक्ति, उसका परिवेश, उसकी

चिंताएं व उसके हौसले हाशिये से पकड़े जा सकते हैं। एक कविता देखें :

"हम फिर उठेंगे
ईंटे इकट्ठी करेंगे
और घर बनाएंगे
हम फिर उठेंगे
सड़ चुकी फसल में हल चलाकर
उसकी खाद बनाएंगे
और नयी फसल के लिए
जमीन तैयार करेंगे
हम फिर उठेंगे
हम भूल जाएंगे
उजड़े घर
नष्ट हुई फसलें
मर चुके मवेशी
बाढ़ में बह गए सम्बन्धी
हम भूल जाएंगे
कि कैसे दरिया
हदें तोड़कर हमारे घरों में घुस आया।
दुखों का पानी है
धीरे-धीरे उतर जाएगा
हम फिर उठेंगे
उजड़ चुके गांवों को
नए सिरे से बसाएंगे
बेचिराग हुए कस्बों में
फिर से चिराग जलाएंगे
और खेतों की मटमैली हो चुकी कैनवस पर
फिर से रंग भरेंगे
और जिंदगी की मशाल को
नये सिरे से प्रज्ज्वलित करेंगे।

मेरा मानना है कि आज कविता में जो नॉस्टैल्जिया आ रहा है और जिसे एक अलग धारा के रूप में स्थापित करने के मोह उफन-उफन पड़ रहे हैं वहां केवल यह एक कविता सशक्त उदाहरण के रूप में सामने रखी जा सकती है। बाढ़ के तमाम तरह के उत्पीड़न के विरुद्ध। विस्थापन की पीड़ा को हौंसले व जद्दोजहद की ताकत बख्शती हुई।

डॉ० अमरजीत कौंके के सद्यः प्रकाशित इस कविता-संग्रह को पढ़ते हुए मूलतः एक नागरी बोध ही स्थापित होता है। हालांकि, फ्लैप पर डॉ० केदारनाथ सिंह दर्ज करते चलते हैं कि "मुट्ठी भर रोशनी" की कविताओं में पंजाब की मिट्टी का रंग है। बेशक, भाषा की एक सहज भंगिमा डॉ० कौंके ने अर्जित की है किन्तु पंजाब का गांव व उसका विन्यास इन कविताओं में नहीं है। इसलिए वह अपनी "बाढ़" जैसी कविता में गांव को लाते हुए भी "मवेशी" शब्द लिख जाते हैं जबकि वे बेहिचक हिन्दी कविता के विन्यास में "डंगर" शब्द घुसेड़ सकते थे। उनके मिजाज में हिन्दी मिजाज शामिल होता है जबकि होना ठीक उल्टा चाहिए था। नागरी बोध के कारण ही उनकी अधिकांश कविताओं में शहरी उत्पीड़न, बेबसी, अकेलापन, 'स्व" से अनवरत युद्ध मां-बाप की लाचारगी इत्यादि एक प्रचलित मुहावरे में दोहराव सहित उपस्थित मिलते हैं। इसके बावजूद वे जो सौंदर्य-बोध उभारते हैं वह सौंदर्य-बोध विशेष का न होकर सामान्य का सौंदर्य-बोध है। उन्होंने लगभग छोटी कविताएं लिखी हैं जिनमें पर्याप्त व्याख्या है और यह इसलिए है कि उन्होंने कविता-भाषा का वह इम्प्रिंट पा लिया है जिसके लिए कवि निज से संघर्ष करता है, यह उनको हासिल है किन्तु इसे एक सीमा भी माना जाना चाहिए। अभी तक उनकी भाषा में एक स्वीकार-भाव स्पष्ट से स्पष्टता होता चलता है। इस हासिल किए गए स्वीकार-बोध को ध्वस्त करके नए स्वीकार तलाशना उनकी कविता की अगली यात्रा होनी चाहिए। हिन्दी में पांच बड़े कवियों (निराला, शमशेर, केदार, त्रिलोचन, रघुवीर,) ने तो ऐसा किया ही है और इसीलिए ये बड़े कवि हैं। डॉ० कौंके को भी चाहिए कि अपना सांचा बदलें। जमीन तोड़ें, दूसरे खिचाव रचें। समग्रबोध उनमें है।

आज के समय में कविता का प्रयोजन है क्या ? क्या कविता कुछ खास तरह के लोगों के लिए है ? जिनके लिए कविता लिखी जा रही है उनके बीच जाकर कविता क्या हस्तक्षेप कर रही है ? कविता वाचिक नहीं रह गयी है और कविता ने पठन का कोई ऐसा रूप भी प्राप्त नहीं किया है जो विजन का मुकाबला कर सके कविता में लय व छन्द को छोड़ कर भी जब बात कहने का हौसला किया जा रहा हो, भाषा से निरन्तर दो-चार होते हुए जब अपने जनपद को, उसके पूरे ठेठ सहित उभारने की कोशिशें हो रही हों, जब लोकगीतों का गायन व रैप मिलजुलकर सुदूर अंचलवासियों तक का मनोरंजन कर रहा हो और अपने खुशी-गम को अलापने का उनका अपना, एक ही ढंग हो, तब कविता के प्रयोजन व हस्तक्षेप को लेकर गंभीरता से सोचना जरूरी है। कवि का द्वंद्व तो इसलिए भी जटिल है कि वह अपने वैचारिक-आग्रह लेकर किस तरह से उपस्थित रहे। कबीर व तुलसी की बात तो जाने दें, हमारे यहां एक लम्बे समय तक साधनारत भी रवीन्द्र की स्थिति, उनके महत्व को नहीं पा सकता। हमारे नयी पीढ़ी के कवि इन स्थितियों को और उलझा रहे हैं, इस तरह से कि वे जोखिम उठाने से लगभग डरते हैं। एक गैर-राजनैतिक (वैज्ञानिक) सोच के साथ कविता में प्रस्तुत होना, दरहकीकत एक अंधेरे ग्रहण की तरह है। गतिशीलता में ठहराव। दृश्य व अदृश्य संसार के सरोकार ढूंढने में एक रुकावट। यहां वह दृष्टि ही नहीं है जो चेतना, कल्पना व अभिव्यक्ति के साथ मिलकर किसी रूप (कविता) का आधार बन सके।

"मुट्ठी भर रोशनी" की कविताओं में डॉ० केदारनाथ सिंह ने विडम्बना-बोध के

नए अन्दाज को अलग से चिन्हित किया है। यहां उत्तर-आधुनिक दौर की संवेदनहीनता की स्थिति भी है। इनके बावजूद कवि ने जिस भरोसे को (महक से रिश्ता) पकड़े रखा है वह अद्वितीय है। बार-बार कवि अपने नागरी यथार्थ में टूटन, तनाव, भटकन व अकेलेपन का शिकार होकर भी अपनी स्मृति व अपने भाषा-संस्कार की खुशबू के बल पर कायम रहता है। यहां, जैसे एक कविता में मां पूरे चाव सहित मनीप्लांट उगाती है किन्तु उसका शिशु पौधा तोड़ देता है जड़ से तोड़ देता है, मां पुन: पौधा लगाती है, बच्चा पुन: तोड़ता है, कवि इसे मीठा खेल मानता खामोश देख रहा है कि जीतता कौन है मां की हिम्मत या बच्चे की जिद ? यहां पूरी संस्कृति, मनोविज्ञान व सामाजिक बेहतरी में इन्सान की निर्णायक भूमिका का चित्रण है। आज के उत्तर-आधुनिक संस्कार में भूमि (चीकनी मिट्टी) की उपस्थिति है।

कुछ अन्य कविताओं, जैसे कि पी० सी० ओ०, खत, वर्जित खत, जाते समय में कवि ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है। प्रकृति को अपनी तरह से भाषा में उतारने की सशक्त उदाहरण एक उम्र होती है, जैसी कविताओं में देखी जा सकती है। कवि का मुहावरा पकड़ने के लिए पाश नामक कविता की अंतिम पंक्तियां, कविता पता नहीं, यकीन कविता का प्रारम्भ व मुट्ठी भर रौशनी नामक कविता को सामने रखा जा सकता है। रेत, रात व रात का माहौल डॉ० कौंके की कविता में अक्सर उपलब्ध होता है। हताश, त्रास व आत्म हत्याओं के समय में अपनी भूमिका समझते हुए कवि, कुछ समय और जैसी कविताओं के बहाने से एक जवाब भी देता है। इसके लिए उन्हें साधुवाद।

"एक आदमी करता है जब रक्तदान और दूसरों की रगों में।
दौड़ता है जिंदगी बनकर तो होता है महसूस/
जिया जा सकता है कुछ समय और।"

इस संग्रह की कविताओं में आतंकवाद के बाद का पंजाब, खेत बेच शहर आता किसान, विदेश भागता जट्ट वगैरह नहीं मिले। ये विषय भी जरूरी है। कुल मिलाकर "मुट्ठी भर रौशनी" एक पठनीय कविता-संग्रह है।

एक टुकड़ा ज़िन्दगी

अब......! कहां है वो आसमान ?

□ पद्मा सचदेव

अपनी ही ज़िन्दगी में जब इतिहास बनते-बिगड़ते देखते हैं तो विश्वास नहीं होता कि अब सब कुछ पहिले जैसा नहीं रहा। वो वक्त किसी किताब में पढ़े अफसाने की तरह याद आता है। आज जब चलते-चलते मैं अपनी गर्दन मोड़कर पीछे देखूं तो 1953 का बरस हाथ छुड़ा कर भागे किसी बच्चे की तरह पीछे-पीछे घिसटता हुआ आता दिखाई देता है। 1995 भी भाग तो नहीं रहा पर अपने बुढ़ाए हाड़ गोड़ों को सहेजता हुआ चल फिर लेता है। पीछे छूट गये बच्चे को गोद में उठाकर दुलार करना, उसे मीठी झिड़क देकर गोद में उठाना, उसे चूमकर गले लगाना बहुत अच्छा लग रहा है।

1953 ही तो था जब मैंने आठवीं पास की थी। नवीं कक्षा में आने पर यूं लगता था जैसे ज़िन्दगी की बहुत ऊंची पथरीली, कहीं सायादार, कहीं कांटों भरी, कहीं कठिन पहाड़ी की पहिली चोटी फतह कर ली है। उस पर बचपन और जवानी की संधि रेखा पर अपने होने की पताका लहरा दी है। आठवीं जमात तक मैं जम्मू के पक्की ढक्की स्कूल में पढ़ी हूं। वहां एक तरफ पीठ किये हुये राजाओं के पुराने महल, दूसरी तरफ मुंह किये हंसते वैष्णों देवी के पहाड़, आपके सामने पालतू गाय की तरह लेटी तवी नदी, महामाया का मन्दिर और विस्तृत आकाश सब एक ही नज़र में भरे जा सकते थे। कभी आधी छुट्टी में कभी सुबह जल्दी आकर या खाली पीरियड में मैं स्कूल की छत पर जा बैठती थी। यहीं मैंने शरतचन्द्र को पढ़ा, महादेवी की यामा की गलियों में हैरान परेशान सी घूमी और अमृता प्रीतम का नाम सुनकर भाव-विभोर होती रही। यहीं वो लम्हा बार-बार मुझसे मिलता था। अपनी ओर खींचता था इशारों से बुलाता था। तब मैं उसे न जानती थी।

उन दिनों डोगरी में लिखना शुरू हो चुका था। डोगरी लेखकों के नाम आकाश में नक्षत्रों की तरह चमकते थे। डोगरी के गीत मन में आकर बाग खिला देते थे। इन नामों

में कई मेरे स्व० पिता के मित्र भी थे। मुझे बड़ा रोमांच होता था। मैंने डोगरी के लोक-गीत गाते हुये उनमें छंद जोड़ लिये थे और हिन्दी में कविता करने लगी। डोगरी के लोक गीतों की खुशबू पीकर जो घुमड़ता वो मेरे मस्तिष्क में मक्खन के पेड़े की तरह तैरने लगता।

आठवीं पास की तो मां ने भी कभी-कभी 'पद्मा जी' कहना शुरू किया। ये इज्जत अफज़ाई थी या टांगे खिचाई कुछ भी कह पाना कठिन है। पर मैं आठवीं में आ गई थी।

जनवरी का महीना था। कुछ धूमिल सी रोशनी ढीठ बच्चे की तरह इधर-उधर से किसी खोमचे वाले को तांक-झांक कर रही थी। हमारा पंजतीर्थी मुहल्ले का टकसाल घर जो अब स्कूल था अपने विशाल मैदाननुमा अहाते में समाता न था। मुझे स्कूल जल्दी जाने का लालच था। एक तो नवीं क्लास ऊपर से स्कूल में अलस्सुबह आने वाली जवान नमकीन जमादारनी के मीठे गले से बजने वाली लचकदार घंटियां। बहुत से लालच थे। ये जमादारनी मुझे गीत सुनाती थी। उसकी आवाज में जादू था। अभी हैडमिस्ट्रैस या दूसरी अध्यापिकाएं न आई थीं। एक मैकअप की हुई बूढ़ी बस भी वहां खड़ी थी। ये आज की ताज़ा खबर थी। उसी के करीब तब जम्मू के प्रधानमंत्री शेख मुहम्मद अबदुल्ला अपने पूरे कद और वजूद से आकर खड़े हो गये थे। बच्चों से बात करने की कोशिश कर रहे थे। कुतुहलवश मैं भी वहां जा पहुंची। शेख साहब पूछ रहे थे। बच्चो, ये बस आपके लिये है। इस पर किसकी तस्वीर लगाएं। किसी ने उत्तर न दिया वो फिर बोले। "जम्मू में बहुत बन्दर होते हैं। बन्दर की लगा दें? मैंने आगे बढ़कर अपनी पूरी गर्दन ऊंची करके उस छः फुट से ऊंचे व्यक्ति को कहा "बन्दर की क्यों हम अपने पहाड़ों की तस्वीर लगाएंगे।" शेख साहब खुश हुये। उन्होंने मुझ पिद्दी सी को ऐसे देखा जैसे हाथी जमीन पर फुदकती गौरैया को देखता है। पर वो यकीनन खुश हुये थे कि उनके मुंह भी कोई लग सकता है। फिर सुनने में आया कि इसी फटीचर बस से हमारे स्कूल के बच्चों का काफिला चंडीगढ़ जायेगा। हम लोगों को भाखड़ा नंगल डैम दिखाने का इरादा था। मुझे भी शौक चढ़ा तो मां से 10-15 रुपए ऐंठने में कामयाब हो गई।

जब इस स्कूल में रुपये गढ़े जाते थे तब कभी कभार यज्ञ भी होते थे। पंडितों का मुंह बन्द करने के लिये भर पेट खिलाने के बाद एक एक चांदी का रुपया भी दिया जाता था। टकसाल तो ये अब भी है पर अब यहां से लड़कियां पढ़कर निकलती हैं। उस वक्त स्कूल की सबसे नायाब चीज़ वहां की शेरनी माई थी। उसके होते कोई स्कूल में घुस न सकता था सुना है एक बार उसने बिना देखे अपने पति को कह दिया था तुम अन्दर नहीं जा सकते। उसने कहा 'मैं हूं' इसने कहा 'कौन मैं?' फिर पति को देखकर कहा 'यहां पर क्यों आये हो? क्या मैं स्कूल से वापिस घर नहीं आती हूं।" पति बेचारा भाग लिया था। शेरनी माई रोज गोभी के खट्टे डंठल बनाकर लाती थी। और पैसे के दो बेचती थी। पांच मिनट में उसका पतीला खाली हो जाता था। उनका स्वाद कैसा था इसका अन्दाज़ा आप इसी बात से लगा सकते हैं कि इतने वर्षों बाद मेरे मुंह में पानी आने लगा है। हाय री शेरनी! तू कहां है?

मैं अपने पहिले स्कूल में अच्छी खासी दादा हुआ करती थी। माई की धौंस सहना ज़रा नागवार गुज़रता था। मुझे पता चला ये मीरपुर की है। बचपन में पिता जी के साथ

मीरपुर में जब मैं थी तो मैंने एकदम वहां की भाषा सीख ली थी। मैंने उससे भी मीरपुरी में बात की तो बोली "किसकी बेटी हो।" मैंने पिता जी का नाम लिया तो वो रोने लगी। उसका बड़ा बेटा पिताजी का विद्यार्थी रहा था घर में भी कभी-कभी कुछ पूछने आ जाता था। इसके बाद माई मुझ पर बड़ी मेहरबान रहती थी।

तो साहेब, बस में चंडीगढ़ जाने का प्रोग्राम तैयार खड़ा था। हो सकता है, मुझे भी 1953 का ये टूर बिल्कुल याद न होता पर तब मैं हर हफ्ते स्कूल में होने वाली डिबेट में कुछ न कुछ पढ़ा करती थी। मैंने उन्हीं दिनों इस टूर पर हिन्दी में एक लम्बी नज़्म लिखी थी जो अब काम आ रही है।

मौसम बहुत अच्छा था। कुछ दसवीं क्लास की और कुछ नवीं क्लास की लड़कियां टूर पर जा रहीं थीं। दूसरे स्कूलों से आई लड़कियां पक्की सहेलियां बनने को तैयार थीं। बस की सीटों पर अधिकार जताये, पूरे दिन के बाद शाम को लौटने वाली चिड़ियों की तरह चहक रही थीं। हम लोगों ने शहर देखे पर ताज़ा बसा शहर न देखा था इसलिये चंडीगढ़ जाने का भी खूब चाव था। नई बस में रियासत के स्कूल का ये पहिला टूर अपने काफिले को लेकर बढ़ा तो गीली बौछारों ने बस धो दी चेहरे साफ कर दिये और हवा की ठंडक में और इज़ाफा कर दिया। मांओं द्वारा मुहब्बत से दी गई मूंगफली के पुर्जे उड़ने लगे। हाय री ग़रीब की बादाम तुझे किस्मत वाले खाते हैं। ज्यों ही भीगती बस का मुंह धुला तो माहौल एकदम बिन्दास हो गया। शहर पीछे छूट गया था। बसन्तर नदी पार करके जब राजपूतों की मंडियों वाला शहर साम्बा आया तो वहां के मशहूर गर्मागर्म दाल के बड़ों पर लड़कियां टूट पड़ी। उसके बाद जो झपकी आई तो वो लखनपुर आकर ही टूटी। भैन जी ने समझा लड़कियां थक गई हैं। वो रात हमने वहीं पर काटी। एक बजे तक हुड़दंग मचाकर सोये थे तो दो बजे ही किसी ने हड़बड़ा कर जगा दिया। थोड़ी देर खी-खी, करके फिर सब सो गई। लखनपुर तब जंगल सा था चिड़ियां निर्विरोध आकर शोर करती थीं। सुबह पांच बजे से जो उनकी पंचायत शुरू हुई तो कच्ची नींद वाले जग गये। उन दिनों हमारे स्कूल में एक टीचर शकुन्तला शर्मा थी। मुझे बड़ी प्यारी लगती थी। उनका कुछ भी कहना मेरे लिये ब्रह्म वाक्य था। स्नेह का सोता फूटने पर भले ही ज्यादा शोर न करे पर उसमें से निकलते बुलबुले अपने फटने की आवाज़ से जरूर ध्यान आकर्षित करते हैं। उन्हें मुतासिर करने के लिये मैंने पांच बजे उठकर चूल्हे के पास पड़ी लकड़ियां सुलगाई और चाय का बड़ा पतीला चूल्हे पर रख दिया। पतीला कहां से आया था ये तो याद नहीं है. पर पतीले की मौजूदगी खूब याद है। एक भरी परात आटा भी गुंथ गया था। पर कौन पकाये इतने फुलके। जहां हम ठहरे थे उसके बाहिर के एक घर की देलहीज पर एक औरत हैरानी से स्कूल से निकलता धुआं देख रही थी। मैंने जाकर कहा मौसी जी हमने फुलके बनवाने हैं वो बहुत खुशी-खुशी आ गई उसके साथ दो तीन स्त्रियां भी थीं। सबके पति खेतों पर गये थे। देखते-देखते नर्म फूले फुलकों से टोकरी भर गई। हम अनपढ़ हाथों से जो पेड़ा बनाते थे उसे वे मुस्करा कर रिजेक्ट कर देती थीं।

उन दिनों जम्मू काश्मीर रियासत में आने जाने के लिये परमिट कटवाना पड़ता था। हमारे परमिट चैक होने के बाद जब बस चली तो साथ-साथ दरिया भी हो लिया। धू-धू करती धूल उड़ाती बस में हमारा एक संसार सा बस गया था। मुझे याद है मेरी ताज़ा-ताज़ा

बनी दोस्त वीना रायज़ादा जो चार भाइयों की इकलौती बहिन थी और गाने वाने के साथ जिसका मीलों तक कोई ताल्लुक न था वो अपने आपको मां की गिरफ्त से छूट कर आजादी को भुनाने के लिये खुदा होकर गा रही थी।

हसरत भरी जवानी
ये हुस्न ये शबाब

इत्तिफाक से उसका बेपरवाह इशारा क्लीनर को देखकर था। उस ज़माने में हम क्लीनर को कहां इन्सान समझते थे।

रंगीन दिल की महफिल
मेरे हसीन ख्वाब
गोया कि मेरी दुनिया
लुटने को है तैयार अब तो आ जा...

ये गाना फिल्म अनारकली का था जो उन दिनों दौड़ रही थी। बेचारा क्लीनर शर्म से पानी-पानी हुआ जा रहा था। ये हमारी उम्र का वो दौर था जब लगता था राह में आने वाला हर पत्थर तोड़ दिया जायेगा। क्लीनर कहां बचता ? आज ये मेरी वीना अमेरिका के किसी शहर में बहुत बड़ी डाक्टर है और उसके रोबदार व्यक्तित्व में उस बिन्दास वीना का कहीं कोई नामोनिशान नहीं है। उस वक्त फिल्म का कोई भी ऐसा गीत न होता था जो मुझे याद न हो। अन्ताक्षरी करने लगे तो मैंने कहा सारी बस एक तरफ मैं एक तरफ। हो जाए भई हो जाए। पर अन्ताक्षरी के वक्त हमें कोई और अच्छा गाना याद आता तो हम गाने गाते।

जिया बेकरार है छाई बहार है
आजा मोरे बालमा तेरा इन्तजार है
जिया बेकरार है

बालम के लिये इन्तजार करना तब बड़ा हास्यास्पद लगता था। अब हमारी बस थी या कोई विस्फोटक कैसे जान पाता। हमारी झुंझलाई हुई मास्टरनियां कानों में उंगलियां देकर ज़ब्त करने की कोशिश कर रही थीं। रास्तों के हरियाले खेत हमारे संग-संग झूम रहे थे। उसके बाद अचानक गन्नों के खेत शुरू हुये रस से भरे गन्ने। हमने ड्राइवर को गाड़ी रोकने के लिये कहा। वो टीचर्ज की तरफ से कोई हूं हां न सुनकर गाड़ी चलाता रहा। फिर ज़ोरदार नारे लगे स्टूडैन्टस यूनियन जिन्दाबाद'' तो शायद किसी टीचर ने इशारा किया होगा गाड़ी रुक गई। गन्नों को हमने ऐसे ही उजाड़ा जैसे खेत में सांडों का हजूम घुस गया हो। दिन चढ़ाई पर था। टीचरज़ ने सोचा होगा गन्ना छुट्टी के बाद लंच छुट्टी अलग से करनी पड़ेगी। सो खाने का हुक्म देकर वो अपने डिब्बे खुलवाने लगीं। रोटियों से भरी टोकरी लिफाफों में लिपटे आलू खट्टी जंभीरी का अचार और हरी मिर्च हाय रे, कितना सादा था सब कुछ। अब लोग बाग मिर्च को चिल्ली कहने लगे हैं।'' दुहाई है अंग्रेज़ी मित्र की।

बस में बैठे तो भरे पेट देखकर ऊंघ मक्खियों की तरह भिनभिनाने लगी। एक दूसरी पर गिरती पड़ती लड़कियां सुख में थीं कि बस का ज़ोर का धक्का लगा और थोड़ा सा बल खाकर वो रुक गई। शुक्र तो ये था कि पास में ही एक स्कूल था। उसके आगे फिर बस्ती थी। चौकीदार ने हमारी टीचर्ज़ के कहने पर स्कूल खोल दिया। ड्राइवर और क्लीनर दोनों बस के नीचे से कुछ खटर-पटर करके बाहिर निकले तो काले हाथ और धूल भरे चेहरे पर मायूसी लाकर बोले,

"बस का एक पुर्जा खराब हो गया है। शहर जाकर लाना पड़ेगा" शहर उस समय केवल जम्मू ही था।

शुक्र है कि किसी टीचर को बस के पुर्जों की कोई जानकारी न थी इसलिए ड्राइवर उसी वक्त जम्मू जाने वाली एक बस में सवार हो गया और हम खुड्डा-कुराला के उस स्कूल के एक बड़े दालान में अपने थैले सजा कर फिट हो गये। टीचर्स घबराई हुई थीं। पर एक स्कूल में ठहरना ही उपयुक्त लगा। हमारे लिये ये स्थान किसी पिकनिक से कम अच्छा न था। आसपास खूब बड़ा मैदान फिर चारों ओर खेत ही खेत एक तरफ़ बस्ती के घरों से झांकते निहायत दोस्ताना चेहरे। उन दिनों रिश्ते इन्सानियत स्नेह और संस्कृति की चाशनी में लिपटे हुए होते थे। जब स्कूल के हैडमास्टर को पता चला कि जम्मू के किसी स्कूल की लड़कियां आई हैं तो हैडमास्टर जी खुद दौड़े आये उन्होंने दो-तीन रसोइयों का इन्तजाम करके रात का खाना भी तैयार करवा दिया। हमें लग रहा था हम किसी की बारात में शामिल होने आये हैं और लड़के वाले हैं। इत्तिफ़ाक से अगले ही दिन लोहड़ी थी। वो अक्सर 13 जनवरी को ही आती है। हमने वो हुड़दंग मचाया कि खुड्डा-कुराला की कीलें निकल आईं। हमारे लिये तो हाई क्लास का पिकनिक स्पॉट था। हम यहां अपना स्वर्ग बना कर मज़े कर रहे थे। लोहड़ी वाले दिन गर्मा-गर्म फूली पूरियां, आलू, दही, अचार, राजमां, बस खाना था कि क्या कहिये। हैडमास्टर जी ने मिठाई भी मंगवाई थी। रात को हमने लोहड़ी जला कर उसके आसपास ढोल बजाकर गीत गाये नृत्य किया। फ़िर हमने अपनी टीचर्स को भी नचाया उनके बटुए झाड़े और 1953 में 8 रुपये इकट्ठे किये जो किसी भी भरी अटैची से कम न थे।

वहां एक हीरो का आना भी याद है। वो आते ही हमारी छोटी टीचरों को और बड़ी लड़कियों को झांकता था। "हम आपको दूसरी बस करवा देते हैं आप मेरे घर में रहिये, हफ्ता भर यहीं रह कर जाइये कोई असुविधा न होगी।" हमें बड़ा मजा आता हमने उसका नाम तीन हज़ारी रख दिया था। उसकी हसरत भरी निगाहें उठती थीं तो उठी रह जाती थीं। जैसे पूरा भरा घड़ा फूलों भरे वृक्ष को देखकर पूरा उलट जाए और औन्धे मुंह जा गिरे। हम लोग छोटे ही उसका पूरा लुत्फ उठाते बड़ी लड़कियां और हमारी टीचर्स उसे देखकर मुंह बिचकाती थीं।

वहां के खुले मैदानों में हमारी इस पिकनिक स्थली पर हम गन्नों की मिठास लिये ताज़ा हवा की तरह ही झूम उठते। लड़की की जिन्दगी में वो दिन बड़े अमूल्य होते हैं जब उसे सड़क पर कोई बुरी नज़र से नहीं देखता। वो दिन पूरी उम्र नहीं रहते लड़की भारतवर्ष में किस तरह बड़ी होती है ये सिर्फ वही जानती है। हम वहां भूल चुके थे कि हम भाखड़ा नंगल डैम और चंडीगढ़ देखने निकले हैं। खुड्डा कुराला तब स्वर्ग हो गया था।

अचानक हमारा ड्राइवर पुर्जा लेकर आ गया। उसकी रोनी सूरत ऐलानिया कह रही थी अब यहां हमारा आखिरी दिन है। उस दिन हमने मार्च पास्ट किया राष्ट्रीय गीत गाये। हममें से कई लड़कियों को ईनाम मिले। हमारे स्कूल को एक कप पाने का सौभाग्य मिला।

अगली सुबह हम अपने पिटे हुए लेकिन पालिश किये मोहरे बस पर बैठ गये। किसी-एक के घर में लड्डू खाये थे उनकी श्रीमती जी हमारे साथ बस में बैठना चाहती थीं। उनके डाक्टर पति न आ जायें इसके लिए हम दुआयें कर रहे थे। उनके पति बिला वजह अपनी स्टैथोस्कोप से चैकिंग करते तो हमें बड़ा बुरा लगा। हमारी दुआएं कबूल हुई वो अकेले ही आई थीं। वे काफी खुशमिजाज़ महिला थीं। अकेले में उन्होंने हमारे साथ खूब गप्पें मारी। हममें से तब कोई ये न जानता था कि बासी शादी में ताज़ी बू उठती है।

राह में जब भी खेतों में मोरनी अपना नृत्य रोककर हमारी छकड़ा बस को डर कर देखती तो सूरज की पहली किरणें उसके पंखों के गोल चकत्तों पर थिरकने कांपने लगतीं।

हम जालंधर जा रहे थे। जालंधर में बस एक नामी विद्यालय के पास जाकर रोकी गई। हमारी हैडमिस्ट्रेस यहां चौथी क्लास में पढ़ती थी। उन्हें यहां का भारी आकर्षण था। बचपन को कौन नज़र अन्दाज़ कर सका है। वहां पर हमारी खूब खातिरदारी हुई। एक बड़ा सा मैदान लड़कियों से भरा-भरा याद आता है। वहां भी हमने राष्ट्रीय गीत गाये। इसके बाद हमने होशियारपुर जाना था। वहां राह में लोहड़ी में मिली रेवाड़ियां और मूंगफली तो होती रही पर रोटी तो रोटी होती है। टीचर्स हमें एक होटल में ले गईं। पसीने चूते छपाछप सिन्दूरी रोटियां तन्दूर से निकालते रसोइयों को ऊपर देखने का भी होश न था। खाने के बाद हमें होशियारपुर का मशहूर शीशमहल देखने ले जाया गया शीशमहल तो आज वहां होगा। पर क्या वो दिन लौट सकते हैं?

हिलती-डुलती बस भर जाने से हिचकोले खाने लगी। तन्दूरी रोटियों के ताप से नींद ने आ घेरा। मीठा-मीठा समां था। अचानक एक ज़ोर का धमाका हुआ। हमारी बस एक टीले से जा टकराई थी। लड़खड़ा कर फिर किसी शराबी की तरह खड़ी हो गई थी। अगर टीला न होता तो ये नाचीज़ आपको कहां बयालीस बरस पीछे घसीट कर न ले जा पाती। हम सब नीचे उतर आये थे। उस पर बैठने से डर लग रहा था। काफी देर तक ड्राइवर बस की ठुकाई करता रहा। वो सीधी हुई तो तीर की तरह हमारे पास आकर रुकी। हम बकरियों की तरह फिर उस पर बेमन से सवार हो गये। सामने भेड़ों के रेवड़ लेकर गुजर 'शऽ ..शऽ . हड़ी...ऽऽऽ...! करते हुए उन्हें एक तरफ कर रहे थे। सर्दियों में जब गूजर पहाड़ों की चरागाहों से वापिस मैदानों में लौटते हैं तब जगह-जगह उनके रेवड़ दिखाई दे जाते हैं। सड़कों को घेरे रेवड़ों को हटाते ये भोले से गूजर पहाड़ों के पुत्र से लगते हैं।

उसी रात डांट और हिचकोले खाते हम नंगल पहुंचे थे। भाखड़ा नंगल का डैम तब खबरों में था उसे देखकर हम आश्चर्यचकित रह गये। कितनी देर देखते रहे। टीचर्स यहां भी लैक्चर देने से बाज न आयीं। ये 'यह' है यह 'वो' है। पर उस उम्र में सुनता कौन था। वहां का विख्यात पुल और पता नहीं कौन सी सुरंगें भी देखीं थीं। नंगल में गंगबल का बिजलीघर

भी देखा। तब न बिजली में दिलचस्पी थी न बिजलीघर में। हालांकि गाड़ी खराब होने से डर की एक तलवार हमेशा सर पर लटकती रहती थी तो भी उसमें बैठना ही हकीकत था। वहां से हमने राह में सरहन्द का गुरुद्वारा देखा जहां गुरु गोबिन्द सिंह जी के बेटे धर्म पर कुरबान होकर दीवार में चिने गये थे।

मेरी सहेली चन्नी जो आजकल डा० चन्दर रामपाल है। उसकी ननिहाल अमृतसर में थी। वहां पहुंचकर उसने जब टीचर्स से दो घंटे की छुट्टी मांगी तो मैं भी उसकी ननिहाल गई। मामी जी ने हमें बहुत प्यार किया। उनका घर अमृतसर के हरमंदर साहेब के पास था। हम गुरुद्वारा गये। मत्था टेका। वहां उन दिनों एक इमारत बन रही थी और कार सेवा ज़ोरों पर थी। हम नये-नये खुले रंगरूट, कार सेवा में जुट गये। मैंने सिर पर रख कर खूब ईंटें ढोईं। मन भक्ति भाव से ओत-प्रोत हो गया। तभी शायद गुरु जी ने मुझे अपनी बहू बनाना स्वीकार कर लिया होगा।

ये एक इत्तिफ़ाक था जब कार सेवा करके पहुंचे तो काफी देर हो चुकी थी। बस जाने को तैयार और हम नदारद। खूब डांट पड़ी। भक्तिभाव का सारा उद्वेग खुशी की सतह पर तेल सा तैरने लगा।

उस दिन हम चंडीगढ़ के लिये रवाना हुए। चंडीगढ़ को देखकर मुझे हमेशा ये लगता है जैसे कोई सुन्दर घर बनाकर यहां से चला गया है। एक बार चंडीगढ़ को देखकर मैंने लिखा था।

शहर ऐ जां ऐ कोई सहरा ऐ बीयाबान ऐ,
पौन रोकी दी कुसै ब्हूटें च वी सुनसान ऐ,
घर खड़ोत्ते दे न जां शौरे ऐ जमदूतें दे न,
साह कुसै लैत्ता ऐ जां फी सून्केया शमशान ऐ।

(शहर है या ये कोई सहरा है बीयावान है,
पवन रोकी किसी ने या बोलती सुनसान है,
घर खड़े हैं या ये परछाइयां किसी यमदूत की,
सांस ली है किसी ने फुंकारता शमशान है)

आज चंडीगढ़ में फिर भी रौनक है इस साफ-सुथरे शहर का सूनापन बंबई दिल्ली के शोर में और निखरता है। आज ये शे'र भी याद आता है।

दिल की बस्ती उजाड़ सी क्यूं है,
क्या यहां से चला गया कोई।

चंडीगढ़ से ही हम जम्मू के लिये वापिस हो लिये थे। राह में लुधियाना में रुककर अंडों वाले परांठे खाए थे। रात हमने जालंधर में काटी। वहीं कुछ वक्त के लिये खरीदारी करने का हुक्म जारी हुआ। हम सब तो समय से आ गये थे पर दो टीचरें काफ़ी देर से आईं उन्हें कौन कुछ कहता। फिर वो स्कूल के लिए ढोल और बांसुरियां भी खरीद कर लाई थीं।

जब हम खुड्डा कुराला में पहुंचे तो स्कूल का चौकीदार सिर पर हमारा छूटा हुआ बिस्तर लेकर भागा-भागा आ रहा था। हमें देखकर वो बड़ा ही खुश हुआ। फिर कहने लगा, "बीबियो मुझे आपकी बड़ी याद आएगी। मैं बूढ़ा हूं अब आपको कहां देख पाऊंगा।" वो सच कहता था। इतने दिनों में भी क्या कभी किसी को वो याद आया होगा? कभी नहीं शायद...।

1961 में जब रियासत से पहिला कल्चरल ट्रूप मध्यप्रदेश के दौरे पर था। मैं भी उसमें शामिल थी। तब एक कवयित्री के तौर में स्थापित हो चुकी थी। इसमें शामिल होने वाले सभी सदस्य उस वक्त के रियासत के प्रधानमंत्री बख्शी गुलाम मुहम्मद ने मनोनीत किये थे। मैं डोगरी की पहली कवयित्री थी मुझे वो अच्छी तरह जानते थे। हमारे ट्रूप के लीडर कल्चरल अकादमी के तब के सेक्रेटरी जनाब अली जवाद जैदी थे। ट्रूप के मैनेजर रियासत के जाने माने पत्रकार सत्ती साहनी थे। पर ट्रूप की रौनक थे हमारी रियासत के सबसे जहीन और तेज तर्रार पत्रकार जनाब शमीम अहमद शमीम। बाद में वो संसद सदस्य भी हुये। पर कैन्सर जैसी जानलेवा बीमारी ने उन्हें बहुत जल्दी हमसे जुदा कर दिया। ट्रूप में शामिल सभी लोग एक परिवार के सदस्य की तरह थे। हमारे कालेज के प्रोफैसर नीलाम्बर देव शर्मा भी इसमें थे जो बाद में कल्चरल अकादमी के सैक्रेटरी भी रहे। ये सभी नामी गिरामी लोग हर तरह के सांस्कृतिक कार्यक्रम में हिस्सा लेते थे। शमीम का जब मंच पर जाने से पहले मेकअप होता तो वो मेकअप मैन को कहते,

"देखो ऐसी कारीगरी करना कि मेरी आंख रानी जम्वाल की आंख से बड़ी दिखाई दे।"

रानी जम्वाल डोगरी की गायिका हैं और राजपूती सौन्दर्य से मालामाल हैं उनकी आंखें बड़ी-बड़ी हैं।

शमीम को एक बार एक ड्रामे में रखा गया। वो हमेशा मंच पर अपने नये डायलाग बोलते थे। क्यू न मिलने पर दूसरे कलाकारों को कष्ट होता पर उनकी बला से। भोपाल से आती बार ट्रेन में औरतों के डिब्बे में घुस गये। ट्रेन चल रही थी। शमीम एक पेटी पर बैठे थे। हम सब लड़कियां वहीं थीं। हमें तो कुछ अचंभा न लगा पर जब ट्रेन की रफ्तार तेज हुई तो एक औरत की शमीम पर नज़र पड़ी। उसने कहा, "भई ये औरतों के डिब्बे में मर्द 'कहां से आ गया?' वो चिल्लाई अरे ये तो मेरी क्राकरी पर बैठा है वो टूट गई होगी।' उठो, उठो एक तो औरतों के डिब्बे में घुसते हो ऊपर से क्राकरी की पेटी पर बैठते हो। उठो यहां से जल्दी उठो'।

शमीम मुस्करा कर बोले।

मोहतरमा आपकी क्राकरी तो यकीनन अब तक टूट चुकी होगी। मुझे यहां से क्यों उठाती हैं।

उस औरत को आग लग गई। वो शमीम को कहां जानती थी। उसने कहा।

ये औरतों का डिब्बा है मैं अभी जंजीर खींचूगी।

मैंने आगे बढ़कर कहा था।

ये मेरा भाई है। ट्रेन की जल्दी में यहां बैठा है। अगले स्टेशन पर उतर जाएंगे। ये देखने आये थे हम लोगों को ट्रेन में जगह मिली या नहीं तब तक ट्रेन चल पड़ी ये अगले स्टेशन पर उतर जायेंगे। ये हमारे ट्रुप के लीडर हैं हम जम्मू काश्मीर से आये हैं।

शमीम मुस्करा रहे थे। बात रफा-दफा हो गई थी।

भोपाल के कवि सम्मेलन में मैंने अपनी "राजा के महल" कविता पहली बार रियासत के बाहिर पढ़ी। अगले रोज हर अखबार ने मेरी तारीफ़ और तस्वीर छापी थी सब मुबारकवाद दे रहे थे और मैं शर्म से मरी जा रही थी। वो ट्रुप बहुत अच्छा रहा था। शमीम कहते एक थैली में मैनर्ज़, थैंक्स, एक्सक्यूज़ भी डालो तो सत्ती साहनी बनता है। उनसे पहिचान होना मेरी ज़िन्दगी की एक बड़ी उपलब्धि थी।

अली जवाद ज़ैदी बेहद सुसंस्कृत व्यक्ति उन्हें आता देख शमीम शे'र पढ़ते।

मेरी ज़ुल्फों का कैदी आ रहा है।

अली जवाद ज़ैदी आ रहा है।

अपनी जिन्दगी की कोठरी से बाहिर की रोशनी तक जाने वाली ये खुली खिड़की थी। जिसमें से मैंने जम्मू के बाहिर का आसमान देखना शुरू किया था।

जब जम्मू वापिस आई तो मेरे दस बारह बरस के छोटे भाई ज्ञानेश्वर ने पूछा था।

"बोबो जी, आप इतने शहर देख आईं क्या आपने नगरोटा भी देखा ?"

नगरोटा जम्मू से बस बारह मील की दूरी पर है। मुझे उस पर बड़ा प्यार आया था। तब कितनी सादगी थी प्रश्नों में। आज प्रश्न तेज खंजर बन चुके हैं। उठते हैं तो किसी को भी ले डूबते हैं। अब तो न वो लोग रहे न वो शौक रहे। कहीं का भी आसमान बाहों में लेने को आतुर नहीं रहा। आपको देख कोई भीगता नहीं। कोई पहिचानने की कोशिश नहीं करता। अब ..! कहां है वो आसमान ? जो तब सारे का सारा अपना था। □

कवितायें

पोस्टरनामा

□ सुजाता

बीच शहर
एक पोस्टर लटक रहा था
इतना बड़ा
कि हर राहगीर गाहे-बगाहे
एक नज़र देख लेता,
जिसे हाथ-पांव बांध
मुंह में कपड़ा ठूंस
निर्दयता से मार दिया गया,
पोस्टमार्टम की रिपोर्ट से
बातूनी शब्द चुप-चपीते
निर्दयता से मार दिया गया,
पोस्टमार्टम की रिपोर्ट से
बातूनी शब्द चुप-चपीते
पोंछ डाले गये,

अब कोरी स्लेट थी
हवा में रेंगतीं फुसफुसाहटें थीं
वह ठंड या लू के प्रकोप से मरा
आंधी के ज़ोर से उसने आत्महत्या की,
आखिर
पोस्टर की उम्र ही कितनी होती है,

पोस्टर पेंडुलम
जो स्थिति की टिकटिक आंकता
झूल रहा था
अक्षर झड़ कर मिट्टी में मिल गये

उस मिट्टी की खपत से
उग आई
काले गुलाबों की एक फसल
मंडराती रहीं काली तितलियां
और हालात की पैरवी करने लगे
काले गुलाब
नया पोस्टर
या कि आंखों में गढ़ते
असंख्य कांटे,
आवारा बादल घूमते रहे
बदरंग हवायें चीरती रहीं
शहर का सीना
बस
हांफते मौसम की टिकटिकी
आये दिन
गूंजती रही। □

बच्चे के लिए

मत रो बच्चे !
तेरी मां ने तेरे लिए
सपनों का पालना बनाया है
फूलों से कढ़ी
चाहों से रंगी
ओढ़ायी है

हौले-हौले झूल रहा है पालना
अंगड़ाइयां लेता
तू भी सो जा,

तेज़ हाथ-पांव पटकते
बच्चे की भोली-भाली आंखें
पल भर को चंचल हो जातीं
पालने में लटकते
मोती, झालर, फानूस पकड़ लेने को
फिर रुआंसी आंखों से झलकता
एक अनजाना डर
बच्चा अकेला रह जाता,

बच्चे !
तू क्यों रोता है
तेरा भाई आस की तितली पकड़ लायेगा
बहन फूल बटोर रही है
गजरा-हार बनायेगी
हर मौसम लोरी सुनायेगा
तेरा बाप तेरे लिये भविष्य के तारे तोड़ने गया है
थोड़ी देर में लौटेगा
दादी ने अपने बेटे के बचपन की
कई निशानियां संभाल कर रखी हैं,
थोड़ा बड़ा तो हो ले
मां की झोली में
सपनों के पालने में
बेफिक्री का झुनझुना बजाते,

तुझे कल के लिए भी
बचा कर रखने हैं
कुछ भोले सपने
निश्छल विश्वास
और अनमोल किलकारियां
पर अभी...
मत रो, मत रो बच्चे !
चुप कर जा
चुप्प...! चोऽऽप !!

नयी कलम

रोटी

□ नवनीत वशिष्ठ

वही हुआ आज फिर
क्या बड़ी, मंझली, क्या छोटी
सबके हिस्से आई
आधी-आधी रोटी

चूंकि भूखे बच्चों के लिए
रोटी का विकल्प
एक परी कथा से ज्यादा
कुछ नहीं होता
और कहानी में भी
परियों से ज्यादा होने को
कुछ नहीं होता

लगी मां सुनाने कहानी
रुंधे गले से
और करने लगी कोशिश
कम से कम कहानी में
बच्चे को रोटी शब्द से
दूर रखूंगी

मां बोली
दूर पहाड़ों के पीछे
फूलों की एक घाटी थी
जिसमें फूल हंसा करते थे
एक नदी बड़ी विशाल वहां
करती थी

वहां रहती थी एक परी
इतनी सुन्दर-इतनी सुन्दर
और मां भर्रा उठी
जितनी सुन्दर रोटी

□

हवा

क्या हुआ मौसम को
लाई भी हवा साथ
हजूम बादलों का
अब गुम है हवा
चुप हैं सब पेड़ों के पात

नहीं हुई ढलते सूरज की
अध्यक्षता में चौपाल

थके परिन्दों के पिंजरे
और
बर्फ के विराट दरवाजे की सिटकनी ?
कौन खोल आया
हवा के न होने का
भरने का खमियाज़ा है
कैद है हवा
उदास परिन्दों का अन्दाज़ा है

कहो हवा से
उसका कैद हो जाना
होता है उसका

अपने खिलाफ हो जाना
और होता है मतलब न होने का उसके
बादल की गुलामी
पत्तों की थकान

बांझ होना नई कोंपलों की
आस का
और होता है मतलब
मना है उठना हमारा
खुद के लिए
कुछ बरस और...!

□

मेरा घर

□ यादवेन्द्र शर्मा

यह घर
अब मेरा नहीं रह गया
दूसरे घरों की तरह हो गया है
मेरा घर
अपनी मौलिकताओं के बावजूद
मां, भाई, पिता सब
तुले हुये हैं
कि इसे वह घर न रहने दिया जाये
जहां पहली बार
वर्षा का झमाझम संगीत सुना था
अलस्सुबह चिड़ियों का किलोल
वसन्त फूलों का जादुई संसार देखा था
जैसे हमारे लिए ही
पेड़ों पर लगते थे
आड़ू और अनार
जहां एक हवादार चौबारा
एक अंधेरा ओसारा,
और पत्थरीला आंगन
सत्कार के लिए मौजूद था
जहां एक कोने में तुलसी का चौरा और
सुगन्धित फूलों में देवता वास करते थे
जहां रोटी में मां के हाथों की आंच भरी मिठास
और विस्तर में चैन का 'निग्घ' था
जहां एक पुराना खेस
दादा की यादगार था
जहां वीरान रातों को
चूहों की खड़खड़ ने अकेलापन बांट लिया था
जहां अभावों के बीच जीवट बचा था
जहां कहीं से भी उड़ कर लौट आना संभव था
वह मेरा घर मेरा नहीं रह गया
तय हो चुका है अब इसका बिखरना। □

देहलीज के पार

□ नरेश कुमार उदास

घर की देहलीज के पार
हो जातीं हैं
भाग जातीं हैं जब लड़कियां
उनके साथ जुड़ जाती है—बातें ही बातें
कहानियां ही कहानियां, और
बस कहानियां

इन भागी हुई लड़कियों के साथ
होती हैं कल्पनाएं
आकार लेने को आतुर
इन्द्रधनुषी सपने ।

भागी हुई लड़कियों को
नहीं लगता डर
जब तक
उनके साथ बना रहे
भगा ले जाने वाला
सहारा

एक विद्रोह मुट्ठियों में कसे
वे छोड़ आई होतीं हैं घर
'अपने' किसी एक के साथ
'कुछ' पाने के लिये
यह और बात है

□

बहुतों को
छोड़ देते हैं
मझधार में
उनके तथाकथित 'अपने'।

भागी हुई लड़कियों का
क्या होगा ? नतीजतन
कहाँ जाएंगी वे सब
जो घर छोड़ आई हैं
चाहे-अनचाहे
महानगर की भीड़ में
पहचान का हिस्सा बनते हुए

ज्यादातर
भागी हुई लड़कियां
या तो
काट लेती हैं अपनी ही कोई
नस अपने आप
या फिर उनका वर्तमान हो
जाता है
'सुर्ख बत्ती'

भागी हुई लड़कियों के लिए
मां-बाप के कुंडी लगे दरवाजे,
चरमराते रह जाते हैं
अक्सर खुलने न खुलने की
बेबसी और हिचक
पल्लों में दबाये

भागी हुई लड़कियों का
अक्सर अपना कोई
आकाश नहीं होता।
वे होती हैं अक्सर,
कटी पतंगें

जिन्हें लूटने की ताक में होती हैं
गुर्राती भेड़िये सी कई आंखें,
लपलपाती जीभें
और मुट्ठियां कसते हाथ ।

रोज़
पृथ्वी घूमती रहती है उसी तरह
रोज़ सूरज उगता-डूबता रहता है उसी तरह
और ये भागी हुई लड़कियां
अपने हिस्से में आये
अंधेरे और उजाले का
कभी नहीं कर पातीं हिसाब ।

□

कहानियां

रोज़ की तरह

□ नासिरा शर्मा

अस्पताल के सामने बूढ़े बरगद के नीचे रोज़ की तरह आज मूंगफली वाला नहीं बैठा था। उसकी दुकान की जगह सूनी थी। जहां वह बोरी बिछाकर मूंगफली का ढेर लगाता था। वहां जमीन साफ और चिकनी पैबन्द जैसी अलग से दिखाई पड़ रही थी। कुछ देर मैं खड़ा रहा फिर निराश हो अस्पताल के गेट से अन्दर चला गया। जहां वार्ड के सामने वाले मैदान में पेड़ के नीचे बैठी नीता मेरा इन्तजार कर रही थी खाली हाथ मुझे आता देख भूख से उसकी अंतड़ियां ऐठने लगीं थीं जिसका दर्द उसकी आंखों में झलक आया था। होंठ प्रश्न की मुद्रा में कुछ खुल से गये थे। दो दिन से हम बेटी की बीमारी में बदहवास कुछ खा पी नहीं पाए थे। घर बहुत दूर नहीं था मगर जब तक पांच साल की आशा का कुशल समाचार न मिले तब तक घर लौटने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहे थे। घर से हमारे लिए खाना चाय लाने वाला कोई दूसरा नहीं था।

मुझे अपना यों खाली हाथ लौटना बहुत बुरा लगा तभी पीछे से किसी ने पुकारा "बाबू जी" मुड़कर देखा तो दूसरे कोने में पड़ी बेंच पर वही मूंगफली वाला बदहवास सा बैठा था। मैं उसके पास जाकर खड़ा हो गया। वह उसी तरफ बेदम बैठा मेरी तरफ देखता रहा वह खासा बदल गया था। उसे पहचानना मुश्किल था।" "क्या है भाई ? आज दुकान नहीं लगाई ? बेचारे मरीज़ के घर वाले निराश लौट रहे हैं। "बाबू जी, कल रात से बेटे की हालत खराब है। गांव से वे सब उसे ले आए है, यहां मगर..." वह रोने लगा।

"कहां है ?" मैं उसके करीब गया।

"वहीं सामने वाले कमरे में......" सुबकते हुए बोला।

"घबराने की कोई बात नहीं है। मेरी बेटी आशा भी वहीं भर्ती है जिसको तुम रोज चार मूंगफली हाथों में थमाते थे।" कहते-कहते मेरे होंठ कांप से गए।

"अरे दइया रे भगवान सबके रक्षक हैं।" कह कर वह सम्भल गया जैसे उसके टूटे हाथों के नीचे किसी ने बैसाखी का सहारा लगा दिया हो।

"तुम बैठो मैं अन्दर पूछ कर आता हूं।" उसके कन्धे को थपथपा मैं नीता के पास होता हुआ वार्ड के सामने वाले कमरे की तरफ मुड़ गया।

मूंगफली वाला हर रोज आशा को स्कूल ले जाने वाले रास्ते में ढेरी लगाए बैठा नजर आ जाता था। जाड़े में मूंगफली और गर्मी में ककड़ी, खीरा मसालेदार नमक के साथ बेचता था। इससे पहले मैं उसकी तरफ ध्यान भी नहीं देता था जबकि मेरे ऑफिस का रास्ता भी इस अस्पताल के सामने से ही जाता था।

आशा जब पहले दिन स्कूल जाने के लिए लाल रिबन लगा, फूलदार फ्राक पहन मेरी उंगली पकड़ कर निकली थी तो मूंगफली वाले ने बहुत लहक कर उसके हाथ में चन्द मूंगफली थमाई थी। जब दूसरे दिन उसने ऐसा किया तो मैंने मना किया और वह नहीं माना मगर तीसरे दिन मैं अड़ गया कि यदि वह इनके पैसे लेगा तो बेटी मूंगफली लेगी वरना नहीं। इतना सुनकर वह हाथ जोड़कर खड़ा हो गया।

"आप हमारे माई बाप हैं...साहब बुरा न मानें...बिटिया के हाथों बोहनी करता हूं ..जब से बिटिया रानी इधर- से गुजरी है सारा ढेर शाम तक बिक जाता है इसलिए मना न करें।"

"ठीक है ठीक" मैं हंस पड़ता था और प्यार से आशा के सर पर अपना हाथ रखे उसे लेकर आगे बढ़ गया था।

आशा जब स्कूल के अहाते में दाखिल होने लगी तो मैंने उसके चेहरे को गौर से देखा और प्यार से गाल थपथपाया तो मेरा मन हल्का हो उठा। शायद उस मूंगफली वाले की बात से वरना आशा के जन्म से घर में सियापा पड़ा था। मां ने दस सलवातें नीता को सुनाई थीं। मेरा मन भी आतंक से मुरझा गया था कि अब धेला-धेला इसकी शादी के लिए जमा करो मगर आज वह कसैलापन जाने कैसे घुन गया था। बार-बार मन पुलकित हो उठता कि बेटी की छाया से किसी की दुकानदारी चल पड़ी है और उसका परिवार सुखी हो उठा है तो इससे बड़ा पुण्य इससे बड़ा शगुन क्या है? यहां खड़े मत हो उधर जाकर बैठो। "अन्दर से निकलती नर्स ने मेरा चेहरा देखते ही कड़कड़ाती आवाज से कहा और तामचीनी की ट्रे में दवाओं की शीशीयां सम्भाले आगे बढ़ गई। हारे मन से मैं दालान की सीढ़ी पर बैठ गया।

"इधर भीड़ मत बढ़ाओ" दूसरी नर्स डांटती गुजर गई।

"सिस्टर, यह तो बताइये मेरी बेटी को हुआ क्या है?" आखिर झुंझला कर पूछ लिया।

"डाक्टर आने वाला है उसी से पूछ लेना।"

"वह ठीक तो है?"

"बक-बक क्यों करता है मत...जाकर उधर बैठेगा—वार्ड में दो सौ बच्चे हैं किसको हम याद रखेगा ?" नर्स कहती गुज़र गई।

शाम की आहट सुनकर नीता ने सर पर शाल लपेट ली थी। सूरज पेड़ की फुनगी पर लटक गया था और अब ठंडी हवा चलने लगी थी। कुछ अनमना सा थोड़ी देर मैं खड़ा रहा फिर एकाएक फैसला कर आगे बढ़ा और नीता का हाथ पकड़ दरवाजे से बाहर निकल गया। आशा डाक्टरों नर्सों के बीच है मगर नीता इस ठंड में भूखे पेट है। उसके पास मां का दिल है मुंह खोलकर अपनी ज़रूरत की कहेगी नहीं इसलिए मुझे इस ठंड से उसे बचाना होगा।

सड़क पार कर कुछ दूरी पर खड़े ठेले के पास जाकर मैं रुक गया और पानी के बताशे और बैंगनी खाकर हम दोनों ने पेट की आग बुझाई। इतना बड़ा अस्पताल मगर आधे किलोमीटर तक न कोई दुकान थी और न बाजार बस बड़े-बड़े नए मकान थे। जहां भूले भटके फेरी वाले आ जाते थे। खा-पीकर जब हम लौटे तो वार्ड के सामने काफी चहल-पहल-सी नज़र आई। मिलने वालों की भीड़ नाश्तेदान और बास्केट लिए तेज़ी से सीढ़ीयां चढ़ रही थी। खाने से बदन में गर्मी आ गई थी। चुस्ती से सीढ़ी चढ़ मैं सीधे डाक्टर के सामने जाकर खड़ा हो गया।

"डाक्टर साहब, आशा कैसी है। उसकी उल्टी रुक गई ?" मैं एक सांस में कह गया।

"वह लड़की...अब खतरे से बाहर है आप मिल सकते हैं।" डाक्टर ने गहरी नज़रों से मुझे देखते हुए कहा और मुड़ कर नर्स से बात करने लगी।

"बेड नं० चौदह" इतना कह नर्स ने मुझे रास्ता दिखाया। जाने कब नीता मेरे पीछे आन खड़ी थी। हम दोनों वार्ड में जाकर आशा को ताक रहे थे। जो गहरी नींद में पड़ी सो रही थी।

"यह दवाएं लेकर आओ, इधर एक आदमी को रुकना पड़ेगा" इतना कह कर नर्स दूसरे मरीज़ों में उलझ गई। नीता बेटी के पैर पर हाथ रख अपने आंसू रोक रही थी। मैं हाथ में पकड़ा पर्चा लेकर बाहर की तरफ भागा ताकि दवा वक्त से ले आऊं।

बाहर भीड़ में मूंगफली वाला दो तीन मर्दों और एक औरत के साथ घिरा बैठा दिखा, मैं रुक कर पूछना चाहता था उसके बेटे की कुशल क्षेम मगर बाजार की दूरी के ख्याल से इरादा बदल मैं कदम बढ़ाता बाहर की तरफ भागा।

जाड़े की रात, सनसनाती हवा के बीच अपने चारों तरफ कम्बल तम्बू की तरह लपेट कर भी मैं कांपता रहता था। आशा को कब क्या जरूरत पड़ जाए और नीता को वार्ड से बाहर निकल कब मुझे कुछ बताना पड़ जाये। इस इन्तजार में रात कट जाती थी। नीता बाहर मेरी हालत देख कई बार रो चुकी थी अपनी सौगन्ध देकर घर जाने को कहती मगर मैं आशा को अब खोना नहीं चाहता था। उसके जन्म के बाद बहुत कुछ अच्छा घटा था। जिसका ध्यान मुझे कभी नहीं आया था। मां को बताना चाहता था जो पोती को देखने इस नाजुक हालत में भी नहीं आई थीं।

"देखो जी। यह नर्स लोग ठीक नहीं है।" नीता ने दवाओं का पैकट हाथ में थमाते हुए कहा।

"क्या हुआ ?"

"डॉक्टर कुछ बता कर जाती है मगर यह मनमानी करती है दिल चाहा तो ठीक वरना पूछने पर झिड़क देती है। आशा के पास वाले बेड पर जो लड़का हैं न, उसकी हालत ठीक नहीं है मगर...।"

"रास्ते से हटो" घुड़कती हुई तीन चार नर्सों की टोली सामने से गुजरी।

"ठीक है।" मैंने इशारे से नीता से कहा और दिल ही दिल उस मूंगफली वाले को याद करने लगा कि उसका लड़का जाने किस हाल में है। इधर-उधर बेचैन नजरें घुमाई मगर वह कहीं नज़र नहीं आया।

कई दिन गुजर गए। आशा पूरी तरह निरोग हो चुकी थी। उसकी आंखों की चमक और गालों की लाली वापस आ गई थी। सच बच्चे फूल की तरह खिलते है और जरा-सी गर्म हवा से कुम्हला भी जाते हैं। कल आशा को छुट्टी मिलने वाली थी। मैंने बाजार से कुछ साग-सब्जी फल खरीद कर घर में रखा और घर की जैसी तैसी सफाई मैं कर सकता था, कर दी। तकिया गिलाफ चादर बदल जब मैं नहा धोकर लेटा तो पन्द्रह दिन की दौड़ धूप जैसे बदन के अंग-अंग को घायल कर गई थी। लेटते ही नींद आ गई।

आधी रात को जाने किस शोर से आंख खुल गई। घबरा कर उठ बैठा। नींद का खुमार जब कम हुआ तो रात के सन्नाटे का अहसास हुआ और महसूस हुआ कि जरूर मैंने कोई सपना देखा होगा और सपने में सुने शोर से नींद टूटी होगी। करवटें बदलते-बदलते सुबह हो गई मगर एक बार नींद टूटी तो फिर मैं नहीं सो पाया। तरह-तरह के विचार मन-मस्तिष्क में बनते-बिगड़ते रहे।

जब मैं अस्पताल पहुंचा तो वार्ड के सामने ही नीता को खड़े पाया। उसका मुंह उतरा हुआ था। आंखों में आंसू तैर रहे थे। मुझे देख कर वह आगे बढ़ी और मेरे दोनों हाथ अपने कांपते हाथों में पकड़ खामोशी से मुझे घूरती रही फिर धीरे से बोली, "सुनो पास वाली बेड का बच्चा गुजर गया रात के आखरी पहर, अन्दर उसके मां बाप रो रहे हैं।"

"आशा कहां है ?"

"अन्दर है। अभी सो रही है।"

"उसे अकेला छोड़कर तुम यहां...?" कहता मैं वार्ड में दाखिल हुआ। नीता मेरे पीछे-पीछे किसी पेड़ की तरह सर झुकाये दबे पांव दाखिल हुई।

कोने वाली बेड के पास एक मर्द और एक औरत का बदन घुटनों में सर दिये बैठा था। उनके हिचकोले खाती काया को देख महसूस हुआ कि आत्मा की गहराई से उठता रुदन उनके बदन को जोर-जोर झिझोड़ रहा है। मैं व्याकुल-सा आगे बढ़कर सामान समेटने

लगा ताकि जितनी जल्दी हो अपनी बेटी को इस मनहूस वातावरण से दूर ले जा सकूं। वार्ड के बाकी औरत मर्द भी उदास आंखों से सब कुछ देखते अपने-अपने बच्चों की देखभाल कर रहे थे।

"सुनो...सुनो तो" नीता की आवाज़ कांपी।

"इनका लड़का रात ही मर गया था। डाक्टर ने आक्सीजन लगाने को कहा था। नर्सों ने ध्यान नहीं दिया बैठी बातें करती रहीं। जब रात को छटपटाया तो मां नर्स को बुलाने कई बार गई। जब तक नर्स आई तो बेटा ठंडा हो चुका था। अब नर्स ने कुछ देर पहले आक्सीजन सिलेंडर मुर्दा बच्चे के मुंह में लगाया है। डाक्टर का राउन्ड होने वाला है न...तुम कुछ करो...कह दो डाक्टर से सब कुछ" नीता की भरी आंखें बरस पड़ीं।

मैं अवाक कभी उसका मुंह और कभी उस गरीब फटेहाल निर्जीव बच्चे को देख रहा था। उसकी उम्र मुश्किल से सात साल होगी। नीता के आग्रह के दबाव और भावनात्मक तनाव में आ मैंने उस बेड पर लटकती तख्ती को पढ़ा जहां पर सिलेन्डर लगाने का टाइम रात दस बजे लिखा था। मैंने निराश होकर नीता को देखा, जैसे कहना चाहा हो कि नक्कार खाने में तूती की आवाज़ की पहुंच कहां होगी ?

"क्या हुआ ?" नीता का भोला सवाल था।

"कुछ खास नहीं...तुम अपना सामान समेटो, मैं डिस्चार्ज स्लिप लेकर आता हूं।"

"तुम कुछ कहोगे नहीं क्या ?" नीता उसी तरह जमी खड़ी रही।

"उनके माता-पिता आवाज उठायें तो मैं सहायता करूं मगर वे तो कुछ एतराज कर नहीं रहे हैं।"

"वे बेचारे अनपढ़ देहाती कुछ समझ ही नहीं पाये हैं सुभाष...?" नीता ने प्रतिरोध के स्वर में कहा।

"अच्छा सामान तो समेटो, जब डाक्टर आयेंगे तो मैं बात कर लूंगा" इतना दिलासा देकर मैं मुड़ा ताकि उस बच्चे के मां-बाप से कुछ कह सकूं मगर वे दोनों अब भी गठ्ठरी बने हिल रहे थे। एक आन्तरिक पीड़ा से तड़प कर मैं वार्ड से बाहर निकला ताकि जरूरी खाना-पूरी खतम कर सकूं। आशा को सोते में ही घर ले जाने का इरादा मैंने कर लिया था ताकि वह हमारे बीच फैली सनसनाहट को महसूस न कर सके।

थोड़ी देर बाद जब मैं लौटा तो डाक्टर राउण्ड पर आ चुके थे।

उन्होंने डेथ सर्टिफिकेट बनाने को कहा फिर अफसोस से गर्दन हिलाई और धीरे से कहा कि शाम को बड़ा इम्प्रूवमेंट था, यकायक यह हुआ कैसे ? आक्सीजन भी समय पर दी गई फिर...? मैं आगे बढ़ा ताकि कुछ बता सकू तभी देखा नीता फटी आंखों से मुझे देखकर हाथ नकारात्मक मुद्रा में हिला रही है। मैं उसके करीब जाकर खड़ा हो गया।

"बेकार है कुछ कहना, यह नर्सें तो उल्टे मां-बाप को ही दोषी बता रही है कि... तुम कुछ मत कहो वैसे भी अब कहने से क्या फायदा ? उसका लड़का तो अब वापस आने से रहा।" नीता के चेहरे पर एक साथ कई भाव आए और गए।

जब हम आशा के साथ भरे-पूरे खुश-खुश लौट रहे थे उस समय मां निर्जीव बेटे को गोद में लिये सीने से लिपटाए हुए थी। उसे घेरे कई मर्द, औरतें गठ्ठरी बनी मुंह ढाके उस पेड़ के नीचे बैठे थे। उनके दु:ख को देखकर मन के कोने में एक संतोष फड़फड़ाया कि हमारे साथ ऐसा नहीं हुआ। सब कुछ चलचित्र की तरह गुजर गया।

अगले सप्ताह सड़क पार करके जब मैं आशा की उंगली पकड़े पुराने बरगद के पास पहुंचा तो देखा अरसे बाद मूंगफली वाला वहां बैठा है।

"कहो भाई कैसे हो?" उसकी नजर जैसे ही मुझ पर पड़ी मेरे मुंह से निकल गया।

"गुजर रही है अच्छी भली" थकी-सी आवाज़ उभरी फिर बुझी नजरें आशा पर गड़ गई और उनमें झक से रोशनी की लौ जल उठी। आगे बढ़ कर उसने मुट्ठी भर मूंगफली उठाई और आशा के दोनों हाथों में थमाने लगा। उसका दुलार देख मैंने भी औपचारिकतावश पूछ लिया।

"तुम्हारा बेटा कैसा है।"

मेरी बात सुन उसका हाथ थम गया। आंखें ठिठक गई मैंने बिना कुछ सोचे समझे दूसरा वाक्य बोल दिया, "उसे स्कूल पढ़ने भेजते हो या फिर अपनी तरह ठेले पर बिठाओगे?

"वह तो तभी नहीं रहा था साहब जी" उसके मुंह से निकला। उसका सारा अस्तित्व करुणामय हो उठा और मुझे ठंडे लोहे की छुअनसे जैसे झुरझुरी सी आ गई।

आशा को लेकर मैं आगे बढ़ने लगा, जो बड़े चाव से मूंगफली खा रही थी। चन्द कदम चलकर जाने किस बेचैनी से मुड़ कर मैंने देखा दृश्य वही पुराना था। बूढ़े बरगद के नीचे बैठा मूंगफली वाला ग्राहकों को पैकेट थमा रहा था और अस्पताल के बड़े दरवाजे से लोग रोज़ की तरह दाखिल हो रहे थे। □

भाषांतर :
तेलुगु कहानी

दो आने की घुंघनी

□ दादा हयात

अनु. : विजयराघव रेड्डी

रोज सवेरे करीब नौ-साढ़े नौ बजे हमारे दफ़्तर की देहलीज़ के सामने से एक कमज़ोर आवाज़ सुनाई देती है ; घुंघनी बेचने वाली एक बूढ़ी औरत की आवाज़।

अपने सीनियर वकील की छत्र-छाया से अलग होकर मैंने उन दिनों अपना अलग दफ़्तर खोल रखा था। मुकद्दमें ज्यादा मेरे पास होते नहीं थे। इसलिए दफ़्तर में कोई खास काम भी नहीं होता था। मक्खी मारते हुए बैठने के बजाय कुछ-न-कुछ करूं यह सोचकर मैं उन दिनों वकालत की किताबों को दुबारा पढ़ कर भूले हुए कानूनों को याद किया करता था और मेरे पास के दो तीन मुकद्दमों के कागज़ातों को उलटा-पलटा करता था। वक्त बहुत मुश्किल से कट रहा था उन दिनों।

मेरा सहायक 'सुब्बारायुडु'' मुवक्किलों की राह देखते देहलीज़ पर ही आसन लगा कर बैठता था। सुब्बारायुडु भी मेरे सीनियर का सहायक था। मेरे सहायक बनने से पहले उसने उस सीनियर वकील की पैंतीस साल तक लंबी सेवा की थी। हम दोनों लगभग एक ही समय अपने सीनियर वकील के साथ बग़ावत कर अलग हो गये।

'अड्डाल गोपालकृष्णय्या', गुस्से में पहले 'दुर्वासा मुनि' के नाम से जाने जाते थे। नतीजा यह हुआ कि उनके जूनियरों में से एक-एक करके सब ने अपना डेरा उठा लिया। अकेला मैं ही किसी-न-किसी तरह आखिर तक लंगर डाले अपनी नैया को खेता रहा। लेकिन आखिर मुझे भी अलग होना पड़ा। हम ही नहीं, उनके पुराने मुवक्किल भी जिन के केस

वे पुराने जमाने से लड़ते आ रहे थे, अपने अपने मुकद्दमों से संबंधित कागज़ात वापस लेकर वहां से उड़न छू हो गये। उम्र का बढ़ना तो कुछ लोगों में आश्चर्यजनक तब्दीली लाता है।

अड्डाल गोपालकृष्णय्या के विषय में भी ऐसा ही कोई करिश्मा हुआ। 'नक्षत्रक' के समान पैंतीस सालों तक उन्हीं को सब कुछ मानने वाले उनके विश्वासपात्र सहायक ने भी बगावत की झंडी गाड़ दी तो कोई भी अनुमान लगा सकता है कि स्थिति कितनी भयानक रही होगी।

गोपालकृष्णय्या से छूटे सुब्बरायुडु को मैंने अपने साथ जोड़ लिया। इसे मैं अपनी जीत मानने लग गया था। वहाँ से छुटकारा पाकर सुब्बरायुडु ने घोषणा की थी कि वह रिटायर्ड जिंदगी जीना चाहता है और अब वह किसी वकील के यहाँ काम नहीं करेगा। ऐसे व्यक्ति की लल्लो-चप्पो करके अपने ऑफ़ीस में काम करने के लिए राजी कर लेना एक अश्वमेध यज्ञ करने के बराबर था।

जब हम दोनों एक जुट होकर काम करने लग गये तब हमने अपने लिए कुछ उसूल बना रखे थे। उन मे से सबसे पहला यह कि गोपालकृष्णय्या के मुवक्किल जो उन के यहां से मुकद्दमें वापस लेकर स्वयं हमारे पास आते हैं, उन्हें मना नहीं करेंगे लेकिन वे खुद उन्हें अपने पास नहीं बुलाएंगे। इस वजह से हम अपराध भावना से मुक्त तो हो गये, लेकिन इन दिनों हमारे दफ़्तर में हमारे पास नाम मात्र का ही काम होता था। जबकि आज वह स्थिति नहीं है।

उन दिनों हमारे दफ़्तर के सामने बिला नागा, हर दिन घुंघनी बेचने वाली उस बुढ़िया की कमज़ोर आवाज़ की तरफ शुरू-शुरू में मेरा ही नहीं, शायद सुब्बारायुडु का भी ध्यान नहीं जाता था।

हर दिन नियमित रूप से घटने वाली घटनाओं की प्राय: एक विशेषता रहती है। उन पर किसी का ध्यान न जाने पर भी वे अनजाने ही वहां के लोगों के मानस पटल पर अंकित होती रहती है। किसी दिन अगर वह घटना घटती नहीं, तो बिला वजह ही कोई कमी-सी महसूस होती है।

उस बुढ़िया के बारे में भी हमें ठीक यही महसूस हुआ।

ऑफ़ीस से निकल कर कचहरी के लिए रवाना होने से पहले हर रोज सुनाई देने वाली उस बुढ़िया की आवाज़ उस दिन हमें सुनाई नहीं दी। जिन दिनों उस की आवाज सुनाई देती, हम अनसुनी कर देते। उस तरह उस दिन भी हम ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। ध्यान देने योग्य हो, तब तो कोई ध्यान दें: कोई बूढ़ी हमारे दफ़्तर के सामने खड़े होकर घुंघनी बेचती है।

लेकिन कचहरी के लिए रवाना होने से पहले मेरे दिमाग में कुछ खलबली-सी मचने लगी। मैं सोचने लगा कि बात क्या है? कोई खास काम भूल तो नहीं गया? या कोई खास आदमी ने मुझ से मिलने के लिए समय लिया हो, और वह नहीं आया हो? ऐसा तो कुछ नहीं है।

इसी उधेड़बुन में मैंने सुब्बरायुडु की तरफ देखा। वह भी मेरी तरह बेचैन नजर आया। दफ्तर को ताला लगाते समय भी हमारे दिमाग की कोई कुरेद ही रहा था। कचहरी पहुंच कर जब अपने अपने काम में मशगूल हो गये तब उस अजीबो-गरीब हालत से अलग हो गये।

उस तरह की अजीबो-गरीब स्थिति से हम क्यों गुजरे थे, इसका भान तो मुझे अगले दिन जाकर हुआ। सड़क पर चलते हम किसी चेहरे को देखते हैं तो हमें लगता है कि वह कोई हमारा परिचित चेहरा है। लेकिन उस चेहरे को इससे पहले हम ने कहां देखा था ? यह तो लाख कोशिश करने पर भी हमें याद नहीं आता। दिन भर हम उसे याद करने में परेशान रहते हैं।

बाद में फिर कभी उस चेहरे के अचानक सामने आने पर हम मन ही मन कह उठते हैं कि "धत तेरे की ! इसे मैं उस वक्त पहचान नहीं पाया था"। अगले दिन सबेरे यथावत दफ्तर के सामने उस बुढ़िया की आवाज़ सुनाई पड़ी तभी मैंने जाना कि इस ध्वनि के अभाव में कल मेरी दशा अस्त-व्यस्त रही थी। जासूसी उपन्यास के अंत में जैसे राज़ खुल जाने से हत्यारे का पता लग जाता है और पाठकों के मन को शांति मिलती है, वैसे ही शांति मुझे भी उस वक्त मिल गयी। उस समय मैं अचरज से सोचने लगा, देखो कैसे छोटी-छोटी बातों का भी मन पर कितना गहरा प्रभाव पड़ता है।

सुब्बारायुडु भी मेरी ही तरह अंदर ही अंदर मुस्करा रहा था। वह भी जासूसी उपन्यास के पाठक के समान आनंदित हो रहा था।

देहलीज़ के सामने खड़ी उस बुढ़िया की आवाज़ फिर सुनाई दी, "लोबिया की घुंघनी हैं बाबू। लोगे ?"

अपनी जगह बैठे बैठे ही सुब्बारायुडु ने नहीं, में सिर हिलाया।

"अच्छी घुंघनी है बेटा। बड़ी मज़ेदार है। दो आने की लो बबुआ !" वह गिड़गिड़ाने लगी।

उसका स्वर पहले से बहुत कमज़ोर लग रहा था। और वह कांप रही थी। आने का हिसाब-किताब को खत्म हुए काफी अर्सा हो गया था। उसकी बात पर मुझे हंसी आयी।

सुब्बारायुडु को भी हंसी आ रही थी।

उसने कहा, "अरी बुढ़िया ! अब आने कहां है ? तुम किस जमाने की बात कर रही है ?"

सुब्बारायुडु की बात का बुढ़िया ने जवाब दिया तो मुझे सुनाई नहीं दिया। दरवाजे के बाहर खड़ी होने के कारण दूर बैठे मुझे उसका चेहरा भी दिखाई नहीं दे रहा था मुझे। तब महसूस हुआ कि रोज़ उसकी आवाज़ तो मुझे सुनाई देती है लेकिन आज तक मैंने उस का चेहरा देखा नहीं।

पता नहीं क्या सोचकर सुब्बारायुडु ने उसे अंदर बुलाया। अपनी जेब से पच्चीस पैसे का सिक्का बाहर निकाला। मैं कुछ पढ़ रहा था। हाथ में रखी पुस्तक में से ध्यान हटा कर, कौतूहल से बुढ़िया को देखने के लिए नजरें दरवाजे की तरफ घुमायीं।

अलमूनियम के थाली नुमा बरतन में घुंघनी लिये बुढ़िया ने देहलीज़ के अंदर कदम रखा।

उसकी आकृति देख मेरा दिल पसीज गया। उसकी आयु अस्सी से कम नहीं होगी। सिर के सारे बाल सफेद थे। त्वचा झुर्रियों से भरी हुई थी और कहीं-कहीं झुर्रियां थैलियां-सी दिख रही थीं। नज़र उसकी बहुत कमज़ोर थी, इसलिए देहलीज को टटोलते हुए पार कर अंदर कदम रख रही थी। और वह पूरी तरह कांप रही थी। टेकने के वास्ते उसके पास कोई छड़ी भी नहीं थी।

सुब्बारायुडु के दिये पच्चीस पैसे के सिक्के को हथेली में रखकर बड़ी देर से टटोलते हुए उसने पूछा, "यह सिक्का कितने का है ? बेटा !"

"चवन्नी है।" सुब्बारायुडु ने कहा।

खुशी से सिर हिला कर शरीर में ताकत न होने की वजह से हाथ में थाली लिये वह मुश्किल से जमीन पर बैठ गयी। थाली के एक कोने में रखे कागज़ों के टुकड़ों में से एक को उसने खींचा। वह किसी पुरानी नोट बुक का एक पन्ना था। कांपते हुए हाथों से ही बुढ़िया ने कागज़ पर कुछ घुंघनियां डालीं।

"चवन्नी में इतनी ही घुंघनी ?" सुब्बारायुडु ने पूछा। उसने कागज़ पर की घुघनियों की तरफ घूर कर देखा और थोड़ी और घुंघनी उस में डाली।

"बस इतनी ही ?" फिर बोल पड़ा सुब्बारायुडु।

बुढ़िया ने कुछ और घुंघनी फिर उस कागज़ पर डाल दी।

सुब्बारायुडु हंस पड़ा। वह कहने लगा, "ऐ बुढ़िया ! मांगने पर तुम इस तरह घुंघनी ग्राहकों को देती रहोगी तो तुम्हारा काम तमाम हो जाएगा।

यह सुनकर बुढ़िया हंस पड़ी। कहने लगी, "बुड्ढी हूं। मुझे कौन धोखा देगा ? बेटा।"

"यही तुम गलती कर रही हो। धोखेबाजों की दुनिया में कोई कमी नहीं।" सुब्बारायुडु ने जवाब दिया।

"जाने दो बेटा कि मैं समझूंगी कि मैंने अपने बेटे को ये घुंघनी दीं।"

बुढ़िया की ये बातें सुन सुब्बारायुडु ने चुपचाप जेब से एक और चवन्नी निकाल कर बुढ़िया के हाथ में रखी और कहा, रखो, ये सब घुघनी मिला कर अठन्नी की हुई होंगी।"

उसने एहसान जताते हुए उस चवन्नी को भी थाली में रख लिया।

दो घुंघनी मुंह में डालते हुए सुब्बारायुडु छानबीन करने लगा, "अच्छा, बूढ़ी मां ! यह बताओ कि कल तुम इधर क्यों नहीं आयीं ?"

"क्या बताऊं, वेटा ! कल मुझे बुखार था। हिल-डुल न सकी कल मैं।" हांफते स्वर में उसने कहा।

उसकी बातों से मुझे लगा कि अब भी वह बुखार से पीड़ित है। और मेरा दिल पसीजने लगा।

"इस उम्र में ये तकलीफें क्यों उठा रही हो ? क्या तुम्हारे कोई बेटा-बेटा नहीं है ?" सुब्बारायुडु ने पूछा—

"क्यों नहीं, है बेटा ! एक है।"

"तो फिर तुझे तेरे हाल पर छोड़ वह क्या कर रहा है ?" बुढ़िया धीरे अपनी कहानी सुनाने लगी—कि उस बुढ़िया का इकलौता बेटा है। लड़का जब छोटा था तभी उसका पति चल बसा था। मुसीबतों को झेलते हुए उसने अपने लड़के को पाला-पोसा है। उसे पढ़ाया-लिखाया। अपने पैरों पर खड़ा रह सकने की योग्यता उसे हासिल करा दी थी। उसकी शादी कर दी। घर आयी बहू को सास का नपने घर रहना पसन्द न आया। बहू ने उसे घर पर रखना पसन्द नहीं किया, इसलिए बेटे ने भी पसन्द नहीं किया। बेटे के घर रहते हुए काफी ताने-उलाहनें व तकलीफें झेल कर, बेटे के लिए बोझ बन कर रहना पसन्द न करते हुए आखिर-कार उस घर से अलग होकर बाहर निकल पड़ी। तब से घुंघनी बेच कर जीवन की नैया खे रही हैं।

"तुम्हारा बेटा, देखने कभी आता है, कि नहीं ?"

इस सवाल का बुढ़िया ने कोई दो टूक जवाब नहीं दिया। उसने यों कहा कि उसे क्या पता बेटा कि मैं कहां रह रही हूं, पता मालूम हो, तब न वह आएगा।

ऐसी हालत में भी अपने बेटे की चुगली करना उसे पसन्द नहीं था। यह हम समझ गये। कुछ भी कहें आखिर वह एक मां है। मां की ममता की बराबरी सृष्टि में और कोई नहीं कर सकता। फिर भी उसने जो बातें कहीं उससे मुझे कई विषयों की जानकारी मिल गयी। मां के घर छोड़ कर चले जाने के बाद से उस बेटे ने यह जानने की कोशिश नहीं की थी कि उस की मां कहां है और उस पर क्या बीत रही है ?

उसकी बातें सुनने पर मुझे कुछ नयी-नयी बातें सूझने लगीं। मैं कहने लगा—

"देखो, बूढ़ी मां। इस उम्र में तुम्हारी देखभाल करने की पूरी जिम्मेदारी तुम्हारे लड़के की है। अगर वह तुम्हारी परवाह नहीं कर रहा है तो तुम कोर्ट के दरवाजे खटखटा सकती हो। तुम्हारे-भरण-पोषण के लिए उपयुक्त रकम उससे दिलाने का प्रबन्ध मैं करा दूंगा। बताओ तुम्हारी राय क्या है ?"

मेरी बात सुनते ही वह अवाक रह गयी। इतने में संभल कर उसने मेरी तरफ गुस्से से देखा।

"नहीं, नहीं बाबू जी। कोर्ट-कचहरियों के चक्कर काटने के लिए मैंने लड़के को जन्म नहीं दिया। वह जहां भी रहे सही सलामत रहे।" भावुक हो कर कहा।

उसके इस अप्रत्याशित जवाब से मैं दंग रह गया।

"मां, तुमने बात समझी नहीं, मैं जो कह रहा हूं तुम्हारी भलाई के लिए ही है।" अपने विचार को सही साबित करने की कोशिश में मैंने कहा।

"अपनी भलाई मैं खुद समझती हूं" कहते हुए वह पूरी ताकत लगा कर खड़ी हो गई।

मैं और सुब्बारायुडु परस्पर एक दूसरे का मुंह ताकने लगे। अब आगे इस मसले पर कोई और सलाह न दें, आगाह करते हुए सुब्बारायुडु ने मेरी तरफ़ देखा। मैं चुप रह गया।

अपनी अलूमिनियम की थाली को साथ लिये लौट रही उस बुढ़िया ने मुड़कर मेरी ओर देखा।

अब उस के चेहरे पर पहले-सा क्रोध नज़र नहीं आया। उस पर दीनता का भाव पसरा हुआ था।

"बुखार के मारे मैं गली-गली घूम नहीं सकती। घुंघनी अच्छी है, तुम भी दो आने की लो बेटा।" उसने बड़ी आशा के साथ कहा।

"हट! फिर आना कहती है?" हंसते हुए सुब्बारायूडु ने कहा। सुब्बारायुडु की हंसी भरी बातों का उस पर कोई असर नहीं पड़ा। जहां खड़ी थी वहीं खड़ी होकर मेरी तरफ दीनता से देखने लगी।

उस स्थिति में खड़ी हुई उस बुढ़िया की बातों का क्या जवाब दूं, मुझे तुरन्त नहीं सूझ रहा था। जेब को टटोल कर मैंने एक रुपये का सिक्का निकाला।

"मैं घुंघनी खाता नहीं, यह रख लें बूढ़ी मां" कहते हुए मैं उसे रुपये का सिक्का देने लगा।

उसकी आंखों में निराशा छा गयी, फिर इतने में आशा भरी नज़रों से उसने कहा "बेटा! मैं भिखारी नहीं हूं। मेरी घुंघनी बहुत स्वादिष्ट होती हैं। खाकर तो देखो, बस दो आने की खरीद लो।"

मेरे दिल को धक्का लगा। मैंने जो बेवकूफ़ी की उसके लिए मैं अपने आपको कोसने लगा। मुझे पता नहीं, अगर उसके स्थान पर और कोई होता क्या करता? शायद रुपये का सिक्का ले लेता। लेकिन स्वाभिमानी व्यक्ति को जो अपनी पैरों पर खड़ा होकर जीता है इस तरह मुफ्त में पैसे देना उसका अपमान करना ही तो है। यह विवेक भी मुझ में नहीं रहा। मैं बहुत लज्जित होने लगा। उस बुढ़िया का रुपये लेने से इन्कार करने से मन में उसके प्रति एक आदर सा जाग उठा।

"अरे मुफ्त में नहीं लेना, रुपये की घुंघनी देना।" अपनी गलती को सुधारते हुए मैंने कहा।

बुढ़िया का मुंह तब तक मुरझा गया था, अब खिल गया।

"वाह ! मेरे बेटे। लो मज़ेदार घुंघनी है। पेट भर खा लो," कहते हुए उसने कागज में घुंघनी डाल दी। उस क्षण मुझे ऐसा लगा कि मैं उसके सामने बौना हो गया हूं। उसके अपनाये भरे शब्दों से मैं भीग गया।

मेरी हथेली में घुंघनी की पुड़िया रख कर कांपते हुए धीरे से वह बाहर निकल गयी। जब तक वह बाहर बहुत दूर निकल नहीं गयी तब तक उसी तरफ खोए से मैं और सुब्बरायुडु दोनों देखते रहे। बाद में मैंने अपनी नज़र घुंघनी की ओर घुमाई।

घुंघनी को सुब्बरायुडु की तरफ बढ़ाते हुए मैंने पूछा "खाओगे ?" "नहीं, मेरे पास की घुंघनी ही मुझे ज्यादा लग रही है।"

फिर मैंने घुंघनी की तरफ गौर से देखा। पता नहीं क्यों मुझे घुंघनी सचमुच पसंद नहीं है। उनकी तरफ अनिच्छा से देख कर कागज में घुंघनी लपेट कर मैंने उसे रद्दी की टोकरी में डाल दिया।

तब से हमने उस बुढ़िया से रोज़ एक-एक रुपये की घुंघनी खरीदने का कार्यक्रम जारी रखा। मैं तो अपनी खरीदी घुंघनी यथावत रोज रद्दी की टोकरी में डालता था।

रुपये ही नहीं, उस बुढ़िया को कोई भी चीज़ मुफ्त देने लगूं तो वह लेती नहीं। और तो और जब उसे बुखार था, मैंने अपनी दराज़ में रखी हुई बुखार की गोली उसे देने लगा तो उसने इन्कार कर दिया।

बाकी समस्याओं से उलझते हुए अभी और मुकद्दमें हासिल करने की ख्वाहिश में परेशान मुझे दूसरों की समस्याओं पर विचार करने की फुरसत नहीं थी। इसलिए उस बुढ़िया को रोज़ एक रुपये देकर उससे घुंघनी खरीदने के सिवा उसकी परेशानी की तरफ मेरा ध्यान नहीं गया था।

लेकिन बाद में एक दिन उस बुढ़िया का हमारे दफ्तर के पास आना बन्द हो गया। तीन-चार दिन हमने उसके बारे में कोई विशेष सोचा नहीं था। लेकिन एक सप्ताह बीत जाने पर भी उसके न दिखने से हम सोच में पड़ गये कि आखिर बुढ़िया को क्या होगा ?

"सुब्बारायुडु। घुंघनी वाली बुढ़िया को क्या हुआ, कहीं पता तो लगाओ।" मैंने एक दिन कहा। दो दिन के बाद सुब्बारायुडु एक समाचार ले आया।

बोला, जिन लोगों ने उस बुढ़िया को अपने घर में शरण दे रखी थी, उन्होंने इस डर से कि कहीं वह अपने यहां ही दम न तोड़ दे उसे उठा कर एक पेड़ के नीचे डाल दिया है।

सुब्बारायुडु की बातें सुनते ही मुझे बड़ा अफसोस हुआ कि एक सप्ताह तक मैंने उस बुढ़िया के बारे में क्यों नहीं सोचा था। बिना देर किये सुब्बारायुडु को साथ लेकर मैं उसे ढूंढ़ने निकल पड़ा।

हमारा गांव पुराना है, उसने अपनी परम्परा नहीं छोड़ी। हमारे दफ्तर की दो गलियों के बाद एक चबूतरा होता था। चबूतरा भी एक बहुत बड़े बरगद के पेड़ के चारों ओर था और बरगद की शाखाएं पूरे चबूतरे पर फैली हुई थीं। उस चबूतरे पर पंचायत का बैठना न जाने कब का बन्द सो गया था। जुआ खेलने वाले, बीड़ी के कश खींचते हुए बात करने वाले बेरोज़गारों के लिए वह चबूतरा ठिकाना बन गया था। बूढ़ी भी उसी चबूतरे पर रहने लगी थी। किसी ने उस पर रहम कर अपने घर की सीढ़ियों के नीचे थोड़ी जगह दे रखी थी। घुंघनी उबालने के लिए उसका चूल्हा आदि उसी सीढ़ियों के नीचे रखे हुए थे। लेकिन वहां भी वह महीने में दस रुपये किराया देकर रहती थी।

वहां पहुंच कर हमने उस बूढ़ी को अति दरिद्र और दयनीय स्थिति में पाया।

हमारे वहां पहुंचने तक वह आदमियों को पहचानने की स्थिति में थी। हम को देखते ही निष्प्राण उसकी आंखों में क्षीण प्रकाश दिखाई देने लगा। पता नहीं यह मेरा भ्रम था या सच, मुझे लगा कि वह हमारी प्रतीक्षा में ही अभी जिंदा है।

हमें देखते ही कुछ कहने की कोशिश करने लगी। उसकी बात सुनने के किए मैं उसके नज़दीक गया।

वह एक ही बात कह पायी "अपने बेटे के वास्ते दो आने की घुंघनी मैंने बचा रखी है। उसे दे देना। कहना कि तुम्हारी मां ने दी है।"

यह बात सुनते ही जैसे मैं करुणा से भर आया। ऐसी मां को निराश्रित करने वाले बेटे के दुर्भाग्य पर एक तरफ दया तो दूसरी तरफ बड़ा गुस्सा आया।

उसका हाथ कुछ क्षण तक इधर-उधर टटोलने लगा और बाद में एक छोटी गठरी पर उसकी उंगलियां टिक गयीं।

मैंने उसके मतलब को समझ कर उस घुंघनी की गठरी को अपने हाथों में लिया।

"तुम परेशान न हो, बूढ़ी मां; मैं इसे तुम्हारे बेटे को दे दूंगा।"

मेरी बात सुन कर उसके चेहरे पर असीम शांति छा गई। पहले से ही यह जानकर कि उसके अन्तिम दिन नज़दीक आ गये हैं, उसने अपने बेटे के लिए घुंघनी को पोटली में बांध रखा और इस विश्वास के साथ कि मैं जरूर आऊंगा मेरी प्रतीक्षा की। यह सब मुझे विचित्र-सा प्रतीत हुआ। मुझे ऐसा लगा घुंघनी की पोटली को मुझे सौंपने के लिए ही वह जीवित थी।

बाद में वह किसी से कुछ भी कह नहीं पायी। उसका मुंह बन्द हो गया।

मैं और सुब्बारायुडु ने इस पर चर्चा की कि आगे क्या करना है। उस बुढ़िया की जिम्मेदारी को अपने पर लेना बुद्धिमानी नहीं, कहते हुए उसने अपनी दलील पेश की।

"तुम कुछ भी कहो सुब्बारायुडु, यह "यह लीगल बातें" करने का वक्त नहीं है। कम से कम इसे सरकारी अस्पताल में भर्ती करा देते हैं।

लेकिन उसे सरकारी अस्पताल में भर्ती करना उतना आसान काम नहीं था। जैसे-तैसे अपनी जिम्मेदारी पर उसे अस्पताल में भर्ती कराने में सचमुच मेरी जान निकल गयी।

इस के बाद उसके बेटे का पता लगाने का काम हमारे सिर पर आ पड़ा। सुब्बारायुडु ने कहा उस बुढ़िया के प्राण पखेरू उरू उड़ जाने से पहले उसके लड़के का पता लग जाए तो कई मुसीबतों से बरी हो सकते हैं। बेहोश बुढ़िया का फोटो अखबारों में छपवा कर यह इश्तहार दिया कि बेटा कहां भी हो तुरन्त हमारे पास पहुंच जाए, लेकिन कुछ फायदा नहीं हुआ। उस बुढ़िया के लिए कोई नहीं आया।

अखबार में इश्तहार छपने के बाद तीसरे दिन बुढ़िया नहीं रही।

इसके दो दिन के बाद एक आदमी हमारे दफ्तर आया। आते ही बिना कुछ कहे "अम्मा-अम्मा' रोते हुए तगड़ा आदमी मेरे सामने कुर्सी पर बैठ गया। उसकी बातों से लगा कि वह उस बुढ़िया का बेटा है।

उसकी आयु पचास की होगी। ऐसे लम्बे तगड़े आदमी को अपने सामने बैठकर रोते देख कर भी मुझे कोई दया नहीं आयी। मैं बिना कुछ कहे पूछे उसे देखता रहा। कुछ देर बाद हल्का होकर उसने सिर उठाया।

"कहां है मेरी मां'' रुमाल से मुंह पोंछते हुए उसने पूछा।

"आपने आने में बड़ी देर कर दी'' मैंने कहा।

वह थोड़ी देर बैठा रहा। बाद में उसने पूछा, "मेरी मां मेरे लिए कुछ छोड़ गयी ?"

सुब्बारायुडु ने सामने की चाय दुकान वाले लड़के को पुकार कर उसे हमारे घर से घुंघनी की गठरी लपक कर लाने के लिए कहा। मैंने उस पोटली को घर में फ्रिज में हिफाजत से धर रखा था। मेरा घर वहां से ज्यादा दूर नहीं था, अत, अत: लड़का झट हमारे सामने पोटली के साथ हाजिर हो गया। लड़के ने पोटली खोली।

"घुंघनी ?" वह अविश्वस्त सा चीख पड़ा।

मैंने कहा "हां घुंघनी।"

"मेरी मां ने आपको मुझे देने के लिए सोना और रुपया नहीं दिया ?"

रुपया !

"सोना !" "मैंने आश्चर्य से पूछा।

वह एक झटके से उठ खड़ा हुआ।

"झूठ मत बोलिए। मेरी मां ने आपके पास काफी धन दे रखा है।

मैं गुस्से से आग बबूला हो गया।

"शटअप, बंद करो बकवास। निकल जाओ। बाहर।" उसे डांटते हुए मैंने कहा।

वह भी आंखें लाल कर कहने लगा "मैं छोड़ूंगा नहीं। मैं अच्छी तरह जानता हूं कैसे अपनी मां की अमानत वसूल करनी है।"

"जो चाहे सो कर लो, गेट आउट" मैं चीख पड़ा।

फिर 'धम' से कुर्सी पर बैठ गया।

इस घटना से मैं भीतर कहीं गहरे असहज हो उठा और अपने को मैं थका-सा महसूस करने लगा। मां के जीते जी तब लड़के ने उसकी कोई खबर नहीं ली। उसके मरते ही धन के वास्ते आये उस लड़के को क्या कहूं, मेरी समझ में नहीं आ रहा था। घुंघनी बेचकर अपने बुढ़ापे की जिंदगी काटने वाली उस बुढ़िया के पास धन कैसे आएगा?

सुब्बारायुडु इस तरह मेरी ओर देख रहा था कि मानो कह रहा हो कि मैंने पहले ही आपको आगाह किया था न? वह सामने रखी घुंघनी खाने लगा।

बाद में मैंने कभी घुंघनी से परहेज नहीं किया। □

रचनकारों से निवेदन

- शीराज़ा में कला, संस्कृति एवं साहित्य से जुड़ी आप की मौलिक, अप्रकाशित रचनाओं का स्वागत है।
- हाशिया छोड़ कर स्पष्ट लिखी हुई या टंकित रचना भेजें। कार्बन कापी नहीं। रचना के अन्त में अपना नाम तथा पूरा पता अवश्य दें।
- समीक्षा के लिए कृति की कृपया दो प्रतियां भेजें।
- अनूदित रचनाओं के साथ मूल लेखक की अनुमति संलग्न करना अनिवार्य है।
- रचनाओं की स्वीकृति तथा नियमानुसार पारिश्रमिक यथासम्भव शीघ्र भेज दिया जाता है। इस विषय में किन्हीं अनिवार्य परिस्थितियों के कारण होने वाले विलम्ब के लिए अवांछित पत्र व्यवहार न करें।
- केवल वहीं रचनाएं लौटायी जा सकेंगी जिनके साथ टिकट लगा लिफाफा संलग्न होगा।

विदेशी साहित्य :
फ्रांसीसी कहानी

उसी शाम

□ मोपांसा

अनु० : डा० तरसेम गुजराज

मैंने अभी-अभी समाचार पत्र की आम खबरों में तीव्र अभिलाषा का एक नाटक पढ़ा है। उसे मारकर वह खुद भी मर गया, इसका मतलब यह है कि वह उसे प्यार भी करता रहा होगा। मेरे लिए प्रेमी या प्रेमिका का महत्त्व नहीं है, महत्त्व तो है प्यार का, और मुझे यह रोचक इसलिए नहीं लगता कि यह मुझे हिला देता है और हैरान कर देता है या मुझमें सहानूभूति पैदा करता है या सोचने पर मजबूर कर देता है, अपितु इसलिए है कि यह मेरी गुजरी जवानी को शिकार रोमांच की तरह दिमाग में चित्रित कर देता है जहां मुझे ईसाइयों के क्रास की तरह प्यार के दर्शन हुए।

मेरे भीतर जन्म से ही आदिम आदमी की प्रवृत्तियां और धारणायें हैं और मैं एक सभ्य पुरुष के तर्कों और पावन्दियों का समर्थक हूं। मुझे शिकार का शौक है परन्तु जख्मी पशु पर नज़र पड़ते ही अथवा अपने हाथ अथवा किसी पक्षी के पंखों पर खून के निशान देखते ही मेरे दिल में हलचल सी होने लगती है। इस वजह से मैं कई बाद शिकार खेलना लगभग बन्द ही कर देता हूं।

उस साल सर्दियां खत्म होने के दिनों ठंड एकदम वहुत ज्यादा पड़ने लगी थी। मुझे मेरे चचेरे भाइयों में से एक, कार्ल डी० रोबिलो ने सुबह होते ही दलदल में जाकर वत्तख के शिकार के लिए निमन्त्रण पत्र भेजा।

भाई चालीस वर्ष के हंसमुख व्यक्ति थे। उनके बाल लाल थे देह के मजबूत, दाढ़ी बढ़ी हुई. ग्रामीण भद्रपुरुष, कुछ-कुछ निर्दयी परन्तु खुश और मिलनसार थे। वह गांव में रहते थे। उनका घर, जिसमें वह रहते थे, आधा घर था और आधा फार्म हाउस। जिस घाटी में वह रहते थे, उस घाटी में एक नदी बहती थी। घाटी के दोनों तरफ पहाड़ियां

पुराने सघन बनों से ढकी थीं । पुराने शाही ढंग के पेड़ अभी तक वहां मिलते थे और वह जगह उड़ते पक्षियों का शिकार खेलने के लिए फ्रांस की सबसे प्रसिद्ध जगहों में से एक थी । बाज का शिकार तो कभी-कभी ही होता था परन्तु तरह तरह के पक्षियों के समूह जोकि बहुत सी बस्तियों में कम ही दिखायी देते हैं, अपने तरह-तरह के रंगों के साथ शाह बलूत के वृक्षों की शोभा बढ़ा रहे थे । जैसे कि वे असली जंगल के किसी छोटे से कोने को जानते पहचानते थे कि वहां उन्हें रैन बसेरा मिलता था ।

उस घाटी में बहुत से खेत थे जोकि नाली द्वारा सींचे जाते थे और जिनकी सीमायें कांटेदार झाड़ियों ने अलग कर रखी थीं । वह नदी जो वहां तक तो अपने किनारों से जुड़ी चली जाती थी, आगे जाकर एक पूरे चौड़े दलदल में फैल जाती थी । मैंने शिकार खेलने के लिए उस दलदल से अच्छी जगह आज तक नहीं देखी थी । मेरे भाई साहब की वह पसंदीदा जगह थी और उन्होंने इस जगह को अपने लिए संभाल रखा था । झाड़ियां चारों तरफ उगी हुई थीं फिर भी उन्हें काट-काट कर पतले रास्ते बना लिये गये थे और उन रास्तों में नावों को डांडों द्वारा चला कर ले जाया जाता था उस शांत और साफ पानी पर जब डांड़ चलाये जाते तो बड़ी-बड़ी मछलियां डर कर घास फूस के नीचे छिप जातीं और काले नुकीले सिर वाली चिड़ियां झटपट गोता लगा जातीं ।

समुद्र बहुत चौड़ा और बहुत हलचलों से भरा होता है उस पर मेरा किसी भी तरह बस न चलता, नदियां बहुत सुन्दर होती है और सदा बेरोक गति से बहती जाती है और दलदल जहां सभी पानी में रहने वाले जन्तुओं के होने का डर लगा रहता है, परन्तु इस सब के बावजूद मैं समुद्र और पानी का बेहद शौकीन हूं । विश्व की रचना में दलदल की अपनी अलग सृष्टि है । यह संसार बिल्कुल अलग होता है जिसमें अपनी तरह का जीवन, अलग ही तरह के निवासी, यात्री, आवाजें, शोर और इन सबसे ऊपर है रहस्य । दलदल से ज्यादा प्रभावित करने वाला, हलचल भरा और वक्त बेवक़्त भयभीत कर देने वाला और कुछ भी नहीं होता । जल से ढके हुए इन निचले मैदानों मे डर क्यों बना रहता है ? क्या घास से टकरा कर जो आवाज पैदा होती है, उस वजह से ? अथवा बहुत मुश्किल से सुनी जा सकने वाली छपाक की आवाज़, जोकि बहुत ही कम या बहुत ही धीमी होते हुए भी कभी-कभी बिजली की कड़क या तोपों की गड़गड़ाहट से भी डरावनी होती है की वजह से ? इनमें से कौन-सी ऐसी बातें हैं जोकि इन दलदलों को उन भयानक देशों की कल्पना में ले जाती है, जिनमें एक अनजान और भयानक रहस्य होता है ।

नहीं, इसमें कोई और बात है, कोई दूसरा ही भेद है, शायद वह सृष्टि का ही अपना रहस्य है । यह बात नहीं कि निश्चित और गन्दे पानी में, इस गीली धरती की बेहद सीलन में सूर्य की तपिश के नीचे सबसे पहले जीवों का संचार और उसी कारण आज यह रूप दिखायी देता है ।

मैं अपने कज़िन के पास रात को पहुंचा उस समय बर्फ इतनी ज्यादा जमी हुई थी कि वह पत्थरों के भी टुकड़े कर सकती थी ।

उस बड़े कमरे में जहां दीवारों, चौखटों, छतों सभी से मसाले से भरे हुए परिन्दों को (जिनके पंख फैलाये हुए थे और टहनियों पर बिठाया हुआ था, कीलों से ठोंक-ठोंक कर

सजा रखा था। उन मरे हुये पक्षियों में बाज, बगुला, उल्लू, नाइटजार. बज़र्ड आदि थे। मेरे भाई साहब ने, जोकि सील की फर की जाकिट पहनने पर खुद ही किसी सर्द मुल्क के अजीब से जानवर जैसे लग रहे थे, मुझे उसी कमरे में भोजन करते हुए बताया कि उन्होंने उस रात के लिए क्या-क्या तैयारियां कर रखी हैं।

हम लोगों को साढ़े तीन बजे चलना था ताकि हम निश्चित जगह तीन या चार बजे तक पहुंच जायें। वहां वर्फ के ढेर से एक झोंपड़ी बनवायी गई थी ताकि सुबह होने से पहले चलने वाली ठंडी हवा से बचा जा सके। हवा इतनी ठंडी होती है, लगता है कि जैसे हमारे मांस को आरे की तरह चीरती चली जा रही हो, चाकू अथवा ब्लेड की तरह काट रही हो, जहरीले डंक की तरह देह में चुभती जा रही हो और चिमटी की तरह मांस को पलट रही हो और आग की तरह हमें जला रही हो।

भाई साहब ने अपने हाथ मलते हुए कहा, "मैंने ऐसी धुन्ध कभी कहीं देखी। शाम के छः बजे से ही सर्दी शून्य से भी बारह डिग्री नीचे है।"

भोजन के बाद उसी समय मैं बिस्तर पर जाकर लेट गया और अंगीठी में जलती हुई तेज आग की रोशनी के पास सो गया।

तीन बजे उन्होंने मुझे जगा दिया। मैंने भेड़ की फर पहन ली और देखा कि मेरे भाई ने रीछ की फर पहन रखी है। दो-दो प्याले गर्म काफी पीने के बाद हमने ब्रांडी के गिलास पर गिलास चढ़ा लिये। एक गमकीपर, अपने कुत्ते प्लोरज़न और पीटर को साथ लेकर निकल पड़े।

बाहर निकलने के पहले क्षण ही मुझे लगा कि सर्दी मेरी हड्डियों में घुसती चली जा रही है। यह रात उन रातों में से एक थी जब लगता है कि धरती सर्दी की वजह से मर रही है। वर्फ सी हवा रोक लेती है और कष्ट पहुंचाती है। यह आपको काटती है, चुभोती है और सुखा देती है। यह वृक्षों, पौधों, कीड़ों को नष्ट कर देती है। छोटे-छोटे पक्षी अपने आप टहनियों से नीचे सख्त जमीन पर गिर जाते हैं और ठंड से सिकुड़ कर मर जाते हैं।

चांद जोकि अपनी यात्रा समाप्त करने वाला था और एक तरफ झुका हुआ था, रास्ते में ही फीका पड़ गया। वह इतना कमजोर लग रहा था कि ढल ही नहीं रहा था। मौसम की गम्भीरता से सावधान होकर सामने ठहरे रहने पर विवश हो गया था। अपने अंतिम वक्त में संसार को शीतल और पीड़ा भरा प्रकाश दे रहा था। वह उजाला वैसा ही निर्बल और मंद था जैसा प्रत्येक महीने के अन्त में होता है।

मैं और कार्ल अपनी बन्दूकों को बांहों में दबाये, जेबों में हाथ डाले, पीठ झुकाये साथ-साथ चल दिये। हमने अपने जूतों पर ऊन लपेटी हुई थी ताकि किसी जमी हुई नदी पर हम लोग फिसल न जायें। जूते कोई आवाज नहीं कर रहे थे और मैंने अपने कुत्तों की सांसों की सफेद भाप को देखा।

शीघ्र ही हम लोग दलदल के एक सिरे पर पहुंचे और एक पतली-सी पगडंडी पकड़ ली जो जंगल के निचले हिस्से की ओर जाती थी।

रिबन जैसी लम्बी पत्तियों से हमारी कुहनियों के स्पर्श से एक अजीब-सी आवाज निकलती। उस आवाज को सुनकर मैं डर गया। पहले कभी दलदल में ऐसी बातों से भयभीत नहीं हुआ था, जैसी दलदल में आम तौर पर होती हैं। वह दलदल में सर्दी से मरा पड़ा था और हम बेंत की सूखी सघन पत्तियों से निकल रहे थे।

अचानक पगडंडी के मोड़ पर मुझे एक बर्फ की बनी हुई झोंपड़ी नजर आई। यह हमारे बचाव के लिए थी। मैं भीतर चला गया। पक्षियों के जाग उठने में अभी घण्टे भर का फासला था। अपने बदन को गर्मायश देने के लिए मैं कम्बल में छिप गया फिर पीठ के बल लेट कर बिगड़ी हुई शक्ल वाले चांद को देखा। बर्फ की कुछ पारदर्शी दीवारों में इसके चार किनारे दिखते थे। लेकिन उस जमे हुए दलदल के कुहरे में इन दीवारों की ठंड और आकाश की ठंड ने मुझे इतनी बुरी तरह जकड़ लिया था कि मुझे जुकाम हो गया। मेरे कज़िन कार्ल को बेचैनी हुई।

"यदि हम ठीक से शिकार न खेल सके तो कोई बात नहीं, लेकिन मैं नहीं चाहूंगा कि तुम्हें सर्दी लग जाये। हम अभी आग जला लेते हैं!" उन्होंने गेम कीपर को घास-फूस काट कर लाने को कहा।

हमने अपनी झोंपड़ी के बीच एक ढेर लगा लिया। उस झोंपड़ी की छत से धुआं निकलने का एक सुराख था और जब सुर्ख लपटें बर्फ के टुकड़ों से टपकने लगी तो वे टुकड़े धीरे-धीरे न मालूम ढंग से पिघलने लगे। वे इस तरह दीख रहे थे जैसे पसीने से भीग गये हों। कार्ल बाहर ही थे। मुझे बुलाया। 'यहां आओ—यह देखो।' मैं झोंपड़ी से बाहर निकला और चकित रह गया। हमारी झोंपड़ी में आग के जलने से वह एक विशाल हीरे जैसी लग रही थी। इस तरह लग रहा था जैसे दलदल में हीरा लाकर रख दिया गया हो। उस झोंपड़ी में हम दो अनोखे जीव दिखायी पड़े। ये दोनों हमारे कुत्ते थे जोकि आग ताप रहे थे।

लेकिन एक खास तरह की चीख, एक खोयी हुई, भटकती चीख हमारे सिरों से गुजर गई और हमारी झोंपड़ी के उजाले में दिखाई दिये दो जंगली पक्षी। जीवन की पहली आवाज जिसे कोई सुनता नहीं, जो अन्धेरे ही अन्धेरे में सर्दियों के दिन की पहली झलक से पहले ही निकल जाती है। इससे ज्यादा प्रभावित करने वाली कोई चीज नहीं थी। मुझे लगता है कि बर्फानी सुबह के उस क्षण उड़ते पक्षियों की वह उड़ती चीख उनके पंखों के साथ दूर चली जाती है। वह आत्मा की दुनिया से निकलने वाली आह होती है।

"आग बुझा दो, दिन निकलने वाला है।" कार्ल ने कहा।

असल में आकाश पीला हो रहा था और कल हंस की उड़ान की लम्बी और बार-बार की आवाज जल्द आकाश में फैलने लगी थी।

रात में रोशनी की धार सी चमक उठी, कार्ल ने गोली चला दी थी और दोनों कुत्ते भागे। और फिर लगभग प्रत्येक मिनट कभी वह और कभी मैं बेंत पर उनकी छाया पड़ते ही बन्दूकें दागते रहे। पीटर और फ्लोरज़ून की सांसें फूली हुई थीं फिर भी वे खुश

दिखाई दे रहे थे और खून से लिथड़ी बत्तखों को, जिनकी आंखें अब तक कभी-कभी हमारी ओर देखती थीं, लाकर इकट्ठा कर रहे थे।

सूर्य निकल आया था। दिन साफ था। आकाश नीला था और हम निकलने की बात सोच रहे थे कि दो पक्षी अपनी लम्बी गर्दन फैला कर हमारे ऊपर से जल्दी ही निकल गये। मैंने बन्दूक चलायी और उनमें से एक मेरे पांव के पास आकर गिर गया। यह सफेद छाती वाली मुर्गाबी थी और फिर मुझे नीले आकाश में ही अपने ऊपर एक पक्षी की आवाज सुनाई दी। अपनी छोटी आवाज में कोई पक्षी बार-बार हृदयविदारक आवाज कर रहा था और यह पक्षी जो बच गया था अपने मर चुके साथी को मेरे हाथों में पकड़ा देख कर हमारे सिर पर बार-बार चक्कर लगा रहा था।

कार्ल घुटनों के बल बैठे हुये अपने कन्धों पर बन्दूक रखे, आश्चर्य से देख रहे थे कि वह पक्षी उनके निशाने का शिकार बने। कहा, "तुमने मादा को मार दिया है और अब नर बच कर कहीं जायेगा नहीं।"

असल में वह उड़कर गया भी नहीं; वह हमारे सिरों के ऊपर ही चक्कर काटता चीखता रहा। एक उदास कूक, एक त्रस्त दुराशीश ने, जो आकाश में गुम हो गयी थी, ज्यादा दुख भरी अकुलाहट ने मुझे इतना पीड़ित नहीं किया था।

कभी-कभी उसकी ओर तानी हुई बन्दूक से डर कर उड़ भी जाता और ऐसा लगता कि वह अकेला उड़ कर चला जायेगा परन्तु फिर उसने ऐसा करने का बिचार छोड़ दिया और अपने साथी को लेने वापिस आ गया।

"इसे धरती पर रख दो" कार्ल ने मुझे कहा, "वह धीरे-धीरे मेरे निशाने में आ जायेगा।" और सचमुच वह अपने साथी (जिसे मैंने मार दिया था) के लिए आकर्षण, अपने पशुवत प्रेम और डर के बावजूद हमारे पास आ गया।

कार्ल ने गोली चला दी और जैसे किसी ने वह डोर काट दी हो, जिसने उसे अभी तक रोक कर रखा था। कोई काली चीज मैंने नीचे गिरती देखी और बेंत में गिरने की आवाज सुनी और पीटर उसे मेरे पास ले आया। □

संवाद

'सृजन, यथार्थ-संवेदना और ज्ञान का समन्वय है'

(डा० विजय अग्रवाल से राजेन्द्र परदेसी की बातचीत)

□ डा० विजय अग्रवाल

—पहले कुछ आपके अपने बारे में......!?

— मेरा जन्म पूर्वी मध्य प्रदेश के अत्यन्त पिछड़े एवं आदिवासी बहुल जिला सरगुजा के चन्द्रमेढ़ा नामक गांव में 1957 में हुआ था। उस समय वहां बिजली तथा परिवहन आदि की कोई सुविधा नहीं थी। हां, वह गांव आसपास के अन्य गांवों से विकसित इस मायने में था कि वहां जमींदार रहते थे। माध्यमिक स्तर तक की पाठशाला थी। एक छोटा-सा अस्पताल तथा डाक घर भी था। इसलिए कुछ पढ़े-लिखे लोगों का वहां समूह बन जाता था। मेरे दादा जी की किराने की दुकान थी, जो शाम को सभी शिक्षित लोगों के मिलने का केन्द्र भी था। इस समूह का प्रभाव पूरे गांव की सांस्कृतिक चेतना पर था। इसलिए गांव में आधारभूत एकता थी। वहां के एक धर्म गहिरागुरु के प्रभाव के कारण लोग साफ-सुथरापन पसन्द करते थे। शराब की लत भी उनमें बहुत ज्यादा नहीं थी। लड़ाई-झगड़ों के मामले भी कम ही हुआ करते थे। मैं उस गांव में सन् 1976 तक अर्थात् 16 वर्ष तक रहा। इसके बाद जिला मुख्यालय अम्बिकापुर चला आया, तथा स्वयं का छोटा-सा व्यापार कर लिया। मेरी प्रारम्भिक शिक्षा आठवीं तक की ही

हुई। जब मैं कक्षा चार में था, तभी पिता की असामयिक मृत्यु हो गयी थी। अतः घर की जिम्मेदारी के कारण शहर जाकर पढ़ना सम्भव नहीं था। नौवीं से लेकर बी० ए० तक की शिक्षा मैंने स्वाध्यायी विद्यार्थी (प्राइवेट स्टूडेंट) के रूप में पाई। बाद में शहर में दुकान खोल लेने के कारण हिन्दी साहित्य में एम० ए० नियमित मिद्यार्थी के रूप में किया। एम० ए० में प्रावीण्य सूची में मेरा दूसरा स्थान रहा। पिछला शैक्षणिक रिकार्ड अच्छा था। अतः मुझे स्थानीय महाविद्यालय में ही व्याख्याता की नौकरी मिल गई। यह मेरे जीवन का मोड़ सिद्ध हुआ। फिर मैंने साहित्य में पी० एच० डी० की। साथ ही संघ लोक सेवा आयोग की सिविल सेवा परीक्षा के लिए भी तैयारी करता रहा। अन्त में 1983 में मेरा चयन भारतीय सूचना सेवा के लिए हुआ, और मैं दिल्ली आ गया।

दिल्ली एवं मसूरी में करीब पौने दो वर्ष के प्रशिक्षण के बाद मेरी नियुक्ति आकाशवाणी दिल्ली तथा प्रशाशन विभाग में हुई। फिर मुझे राष्ट्रपति डॉ० शंकरदयाल शर्मा के विशेष कार्य अधिकारी के रूप में कार्य करने का अवसर मिला। वर्तमान में मैं राष्ट्रपति जी के निजी सचिव के रूप में कार्य कर रहा हूं।

जहां तक लिखने की प्रेरणा का प्रश्न है, वह न जाने क्यों बचपन से रही। मेरे पिता चाहते थे कि मैं व्यवसाय से हटकर कुछ विशेष करूं। बस इसी के अनुकूल सपने देखने की आदत पड़ गई। हमारे यहां उस समय गीता प्रेस गोरखपुर से निकलने वाली कल्याण तथा अन्य पुस्तकें आती थीं। फिर मेरे चाचा को सामाजिक और जासूसी उपन्यास पढ़ने का बहुत शौक था। अखण्ड-ज्योति का साहित्य भी आता रहता था। इन्हीं सबके कारण मैं लिखने की ओर प्रेरित हुआ।

लिखने की शुरूआत तुकबन्दियों से हुई। बाद में छायावादी साहित्य का मुझ पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। उस समय मन में खूब बातें आतीं, लेकिन सबकी सब अश्रुगलित भावना प्रधान, हवाई-उड़ान तथा आत्म-पीड़न वाली होती थीं। एम० ए० तक आते-आते मुझे लग गया था कि अब तुकबन्दी का जमाना नहीं रहा है। "नई कविता" मेरे बस की बात नहीं थी। अतः मेरा झुकाव गद्य की ओर विशेष समीक्षा की ओर हो गया।

शुरूआत तो मैंने संभागीय स्तर के समाचार-पत्रों में सम्पादक के नाम पत्र" लिखने से की। लेकिन पढ़ाई की धुन के कारण कुछ विशेष लिखना

नहीं हो पाता था। कॉलेज के दिनों में एक नाटक भी लिखा था, जिसका निर्देशन मैंने स्वयं किया था। लेकिन यह क्रम बना न रह सका। मन करता कि अब इस सिविल सेवा की परीक्षा से मुक्ति मिले कि इत्मिनान से लिख सकूं। दिल्ली आने के वाद एक साहित्यिक गोष्ठी की पहली रिपोर्टिंग "आजकल" में छपी। एक विचार प्रधान लेख "बिलासपुर टाइम्स" में छपा। फिल्मों पर पहला लेख जनसत्ता में छपा। वस उसके वाद लिखने और छपने का सिलसिला चल निकला।

—एक सृजनशील साहित्यकार होने के नाते से सृजन को लेकर आपकी धारणा?

—सच्चा सृजन-यथार्थ, संवेदना और ज्ञान का समन्वय है। यह अनुभूति यथार्थ से ही पैदा हुई होनी चाहिए, अन्यथा उसमें गहराई नहीं आ पाती, जो यथार्थ रचना में तबदील कर सके।

—आपकी लिखी रचनाकारों की मुख्य प्रवृत्तियां क्या हैं?

—मैंने सिनेमा, साहित्य, संस्कृति एवं भाषा पर लिखा है। पिछले साल एक व्यंग्य-संकलन "कूड़ेदान की आत्मकथा" शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। सिनेमा में मेरी विशेष रुचि है, जिस पर अब तक दो पुस्तकें आ चुकी हैं। मेरी रचनाओं के केन्द्र में सामाजिक चिन्ता मुख्य रही है, भले ही वह लेखन सिनेमा पर ही क्यों न हो। मुझे ऐसा लगता है कि रचना की प्रत्येक विधा का कुछ-न-कुछ सामाजिक दायित्व होता ही है, जिसे हमें पूरा कराना चाहिए।

—कुछ सर्जकों का मत है कि रचनाकार का दायित्व मात्र से अवगत कराना ही है, विकल्प प्रस्तुत करना नहीं। तो क्या साहित्यकार का कर्त्तव्य समाज के प्रति इतना ही है? फिर पत्रकारिता और साहित्यकारिता में क्या अन्तर क्या है?

—मात्र यथार्थ से अवगत कराना एक प्रकार की फोटोग्राफी है। कोई भी साहित्यकार फोटोग्राफर नहीं हो सकता। उसमें अनुभूति और कल्पना का समन्वय होता ही है। यही वह बिन्दु है, जो साहित्यकार और पत्रकार को अलग करता है। साहित्यकार भले ही ज्यों का त्यों विकल्प प्रस्तुत नहीं कर सकता, लेकिन वह उस ओर इशारा जरूर कर सकता है। और उसे यह संकेत करना भी चाहिये, चाहे वह संकेत वर्जना का ही संकेत क्यों न हो। इसका अर्थ यह नहीं कि वह समस्याओं का समाधान करने वाला कोई डॉक्टर है। फिर भी जब वह विकल्प की ओर संकेत करता है, तो वह संकेत धीरे-धीरे लोक चेतना में एक स्वरूप ग्रहण करने लगता है। उसे अपने संकेत पर यह भरोसा होना चाहिए कि हो सकता है कि कभी यह संकेत मूर्त रूप धारण करके समाज को राह दिखाने लगे।

—विभिन्न स्थानों और पदों पर कार्य करने से क्या आपके रचनाकार को सृजन की व्यापक भूमि मिलती है ? अथवा आपके विचार से इससे व्यवधान भी पैदा हुआ है ?

—विभिन्न स्थान और पदों पर कार्य करने से निःसंदेह रूप से अनुभूति और संवेदना का आधार व्यापक होता है, और दृष्टिकोण के क्षितिज में भी फैलाव आता है। आज रचनाकार के सामने इतने अधिक विषय मौजूद हैं, और पाठक की मानसिकता भी इतनी बदल चुकी है कि वह एक कमरे में बैठकर कभी अच्छी रचना नहीं कर सकता। जहां तक कुछ दबाव और तनाव का प्रश्न है, वह मैं समझता हूं कि कमोवेश सभी जगह मौजूद रहता है। इसलिए मैं अपने पद और स्थान की विभिन्नता को व्यवधान नहीं मानता।

—आजकल ढेरों साहित्य लिखा जा रहा है, पर उसके कालजयी और सार्थक होने की स्थिति पर प्रश्न चिन्ह क्यों है ?

—सचमुच, आज साहित्य लिखा जा रहा है, रचा नहीं जा रहा है। एक प्रकार से साहित्य का उत्पादन हो रहा है। साधना की बात खत्म हो गई है, और साहित्य आज लोकप्रियता प्राप्त करने तथा सुख-सुविधायें जुटाने का साधन बन गया है। पत्रकारिता और इलेट्रानिक मीडिया के दवाव ने उसकी कालजयिता पर अपनी सबसे गहरी काली छाया डाली है। नगर और महानगर रचनाकारों के केन्द्र बनते जा रहे हैं। ये रचनाकार अपनी थोड़ी-सी मूल अनुभूति की पूंजी को ही जीवन-भर भुनाते रहते हैं। ऐसी स्थिति में न तो कोई बड़ी रचना सामने आ पा रही है, और न ही कोई महान रचना। सच तो यह है कि नई पीढ़ी के पास उतना धैर्य नहीं रह गया है। पुरानी पीढ़ी चुकती जा रही है। ऐसी स्थिति में रचना के क्षेत्र में एक शून्य-सा दिखाई पड़ रहा है। लेकिन इतना जरूर है कि प्रकृति किसी भी शून्य को अधिक समय तक बर्दाश्त नहीं करती। उसकी भरपाई होती ही होती है। इसलिए वर्तमान स्थिति निराशापूर्ण होने के के बावजूद मुझे उसी निराशा में सम्भावना दिखाई पड़ती है।

—आप कालांतर से रचनाकर्म से जुड़े हुए हैं। प्रभूत सृजन भी किया है। अपने साहित्य के मूल्यांकन से आप कहां तक संतुष्ट हैं ?

—सच तो यह है कि आज साहित्य का मूल्यांकन होना ही बन्द हो गया है। जिस प्रकार फिल्मों का मूल्यांकन जनसम्पर्क अधिकारियों की क्षमता पर निर्भर करने लगा है, ठीक उसी तरह की स्थिति साहित्य के मूल्यांकन की भी है। साहित्य का मूल्यांकन खेमों के आधार पर हो रहा है। ये खेमे प्रकाशकों के हैं, समीक्षकों के हैं, विचारों के हैं, अखबारों के हैं, मित्रता के हैं, तथा और

भी न जाने किस-किस के हैं। इसलिए यदि अच्छा मूल्यांकन होता है, तो उस पर पूरी तरह विश्वास नहीं होता है। और यदि बुरा मूल्यांकन होता है, तो उसे सच मानने को जी नहीं चाहता। इसलिए कम-से-कम वर्तमान स्थिति में तो इसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता।

—सम्प्रति, आप क्या लिख रहे हैं ?

—"रोजगार समाचार" में "अपनी हिन्दी संवारें" शीर्षक से साप्ताहिक कॉलम लिख रहा हूं। "दैनिक जागरण" में पाक्षिक रूप से फिल्म पर कॉलम आ रहा है। फिल्म और साहित्य में एक गम्भीर तुलनात्मक अध्ययन करने की योजना है। लेकिन पता नहीं कब यह मूर्त रूप ले सकेगा। लघु कथाओं की ओर भी उन्मुख हूं।

—आप राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त पत्रिका "आजकल" के सम्पादक रह चुके हैं। आपकी रचनाएं स्थापित पत्र-पत्रिकाओं में नियमित आती हैं। दृष्टि में लघु-पत्रिकाओं का महत्व क्या है ?

—लघु पत्रिकाओं के साथ केवल आर्थिक और अपनी स्थानिक सीमाएं ही नहीं हैं, बल्कि नीति सम्बन्धी सीमाएं भी हैं। इसलिए जो वैचारिक ऊर्जा तथा संवेदनात्मक गहराई इनमें दिखाई देनी चाहिए, उसकी कमी है। फिर भी कुछ ऐसी रचनाएं पढ़ने में आती हैं, जो लघु पत्रिकाओं के महत्व के प्रति आस्था पैदा करती हैं। इसमें कोई दो राय नहीं कि देश की रचनात्मक ऊर्जा को जागृत करके उसे लोगों तक पहुचाने का काम लघु पत्रिकाएं ही कर सकती हैं, और वे कर रही हैं। ये पत्रिकाएं देश में एक साहित्यिक आन्दोलन खड़ा कर सकती हैं। इसलिए इनके महत्व को केवल इसीलिए कम करके नहीं आंका जाना चाहिए, क्योंकि ये किसी छोटे स्थान से निकलती हैं इनका छोटा होना है या कि इनका सर्कूलेशन कम होना है। □

इस अंक के लेखक—

1. लालिमा धर चक्रवर्ती
   23/A-गांधीनगर, जम्मू ।

2. मोतीलाल साकी
   D-713 सरोजनी नगर
   नई दिल्ली—23 ।

3. पृथ्वी नाथ मधुप
   202/11 गली नं० 5
   नानक नगर, जम्मू ।

4. जोहरा अफ़ज़ल
   हिन्दी विभाग
   कश्मीरी विश्वविद्यालय, श्रीनगर ।

5. रतनलाल शांत
   मुख्य पोस्ट आफिस के सामने
   सुभाष नगर, जम्मू ।

6. मनोज शर्मा
   H/No 34-35 सेक्टर—4
   त्रिकुटा नगर, जम्मू तवी ।

7. पद्मा सचदेवा
   16-टोडरमल रोड
   नजदीक बगाली मार्किट
   नई दिल्ली ।

8. सुजाता
   68-लारेंस रोड
   अमृतसर ।

9. यादवेन्द्र शर्मा
सुन्दर नगर—1 (H.P.)

10. नरेश कुमार उदास
C.S.I.R, काम्पलेक्स
पालमपुर (H.P.)

11. नवनीत वशिष्ठ एम०बी०ए०
305 टैगोर होस्टल
हि० प्र० विश्वविद्यालय
शिमला 171005. (H.P.)

12. नासिरा शर्मा
108 उत्तराखंड, जवाहर लाल नेहरू यूनिवर्सिटी
नई दिल्ली-110067।

13. दादा हयात
c/o द्वारा
विजय राघव रेड्डी
केन्द्र प्रभारी केन्द्रीय हिन्दी संस्थान
हैदराबाद—50007 (A.P.)

14. डा० तरसेम गुजराल
46 हरबंस नगर
जालन्धर—2

15. डा० राजेन्द्र परदेसी
326—राम गुलाम टोला
देवरिया—27400 (U.P.)

16. डा० विजय अग्रवाल
टाइप-5 मकान नं० 24
शेड्यूल-ए राष्ट्रपति एस्टेट
नई दिल्ली-110004।

□